समस्या को देखना सीखें

आचार्य महाप्रज्ञ

सपादक
मुनि दुलहराज मुनि धनंजयकुमार

स्वर्गीया मातुश्री पतासीबाई कटारिया (धर्मपत्नी श्री मिश्रीलालजी कटारिया) सोजतरोड (राजस्थान) की पुण्य स्मृति मे उनके सुपुत्र श्री तरुणकुमार कटारिया सुपौत्र श्री भीखमचन्द कमलकुमार कटारिया एव प्रपौत्र सिद्धार्थ कटारिया धोबीपेठ, चेन्नई (तमिलनाडु) के सौजन्य से प्रकाशित

प्रकाशक . कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)
मूल्य साठ रुपये संस्करण . [illegible] / मुद्रक पवन प्रिंटर्स, दिल्ली-32

SAMASYA KO DEKHNA SIKHEN by Acharya Mahapragya Rs 60.00

प्रस्तुति

विचार और निर्विचार—ये चेतना की दो अवस्थाए है । हर मनुष्य विचार से बधा हुआ है । जितने मनुष्य, उतने विचार, इस प्रतिपाद्य मे कोई असत्य नही है । स्वतन्त्रता से जुड़ी हुई है विचार की भिन्नता, इसलिए विचारो को एक करने का प्रयत्न स्वतंत्रता की सीमा मे हस्तक्षेप है ।

एकता के प्रयत्न का अमोघ सूत्र है निर्विचार होना । जहां विचार निर्विचार मे विलीन हो जाते है, वहा सत्य समग्र होकर प्रकट होता है । अध्यात्म सत्य की खोज और सत्य की उपलब्धि का राजमार्ग है । प्रस्तुत पुस्तक मे अध्यात्म से अभिसिक्त विचार पल्लवित हुए है, इसलिए इनमे समन्वय को खोजा जा सकता है, आग्रह को नही । अनेकान्त या सापेक्ष एकान्त को खोजा जा सकता है, निरपेक्ष को नही । समस्या को देखने की कला है, सापेक्षता का दृष्टिकोण ।

इस दुनिया मे सुख और दु ख का चक्र चलता है । सभवत आदमी सुख कम भोगता है, दु ख अधिक । इसलिए भोगता है कि वह समस्या को देखना नही जानता । समस्या आसन बिछाकर बैठ जाती है । यदि तीसरा नेत्र जागृत हो, दु ख अपने आप कम होगा । दु ख को कम करने का महामंत्र है समस्या को देखना ।

मुनि दुलहराजजी साहित्य-सपादन के कार्य मे लगे हुए है । वे इस कार्य मे दक्ष है । प्रस्तुत पुस्तक के सपादन मे मुनि धनंजयकुमारजी ने निष्ठापूर्ण श्रम किया है ।

—आचार्य महाप्रज्ञ

अध्यात्म-साधना केन्द्र
छतरपुर रोड, मैहरोली
नई दिल्ली ११० ०३०

१ अगस्त १९९४

संपादकीय

- जीवन और समस्या का सबध
  एक शाश्वत सा अनुबध
  यह सभव नही कि
  जीवन हो और समस्या न हो
  यह भी संभव नही
  समस्या हो और समाधान न हो
  कोई भी जीवन समस्या विहीन नही है
  और समस्या समाधान विहीन नही है
- व्यक्ति सोचता है—
  समस्याए बहुत है पर समाधान कहा है ?
  प्रभावी है परिस्थितिया, उपादान कहा है ?
- महाप्रज्ञ कहते है—
  समस्या का समाधान
  करता है जो सधान
  न अटकता है, न उलझता है
  फूलो मे, पत्तो मे
  पहुचता है गहरे
  समस्या की जड़ो मे
  देखता है स्रोत
  मिलता है उसे
  अभिनव उद्योत ।
- समस्या यही है—
  नही जानते देखना
  तह तक पहुंचना
  यदि पहुचा जाए अतल तल मे
  निधान से भरे भूतल मे
  होगी विस्फारित्त दृष्टि
  देख अभिनव सृष्टि ।
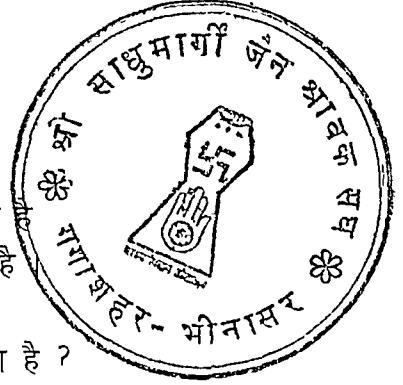
- महाप्रज्ञ का वक्तव्य है—
  समस्या आती है जहां से
  समाधान भी फूटेगा वहां से
  जहां से तूफान आएंगे
  लंगर भी वहीं से आएंगे।
- आज की समाधान दृष्टि
  नई समस्या की सृष्टि
  महाप्रज्ञ की मार्मिक काव्यात्मक भाषा
  इस सच की परिभाषा—
  'समस्या के समाधान का
  सर्वश्रेष्ठ उपाय
  यही है
  समस्या की शृखला मे
  एक समस्या और जोड़ दो
  जनता का ध्यान
  पुरानी समस्या से हटा
  उस ओर मोड़ दो
  जो यथार्थ का प्रतिबिम्ब दे
  उस शीशे को तोड़ दो।'
- महाप्रज्ञ का प्रस्तुत ग्रथ
  'समस्या को देखना सीखे'
  देता है समाधान की नई दृष्टि
  जिसमे सन्निहित है
  शान्ति का दर्शन
  सत्य का स्पर्शन
  समस्या-ग्रस्त पाठक के लिए
  समाधान का स्वर
  चिन्तन-मंथन का अवसर
  विचार के क्षितिज पर
  उग जाता है तेजोमय भास्कर।

मुनि धनंजयकुमार

अनुक्रम

जीवन और दर्शन

जीवन भी सबके पास है और दर्शन भी सबके पास है । ससार मे ऐसा कोई भी व्यक्ति नही, जिसके पास जीवन हो और दर्शन न हो । परन्तु जीवन और दर्शन मे मेल होना चाहिए । यदि दर्शन जीवन होता है तो दोनो मिलकर एक प्राण बन जाते है । प्रश्न होता है—जीवन क्या है ? दर्शन क्या है ? यह सरल भी है और गूढ़ भी है । सभी लोग कहते है—सुनकर काम करो, देखकर चलो । देखने का सब जगह महत्त्व है । यदि जीवन न होता तो शायद देखने की आवश्यकता नही होती । आदमी जीता है, वही जीवन है । इन्द्रियो और प्राण के सयोग से ही वह बनता है । प्रो० ल्योनिदवासिलियेव ने लिखा—मैने मस्तिष्क सस्थान के परीक्षणो द्वारा ज्ञात किया कि मनुष्य मे अक्षय शक्ति है, अनन्त शक्ति है । उसकी शक्ति विद्युत् तरगो की तरह नही है । सोवियत पत्रो मे इसकी काफी चर्चा हुई । जीवन का क्षेत्र बहुत विशाल है । कुछ दिन पहले एक डॉक्टर ने कहा था—आज भी मनुष्य अवधिज्ञानी तथा मन पर्यायज्ञानी हो सकता है । जीवन की परिधि विशाल होती जा रही है । जीवन आगे बढ़ रहा है ।

दर्शन का अर्थ

हम जो आखो से देखते है, वही दर्शन है । परन्तु सब कुछ सीधा ही सीधा नही होता, उल्टा भी होता है । हमारे ऋषियो-मुनियो ने कुछ बाते उल्टी भी कही । उन्होने कहा—हम जो देखते है, वह दर्शन नही, वह देखना देखना नही है । देखने का अर्थ है—आखे बन्द करके देखना । मनुष्य देखता हुआ भी नही देखता । सुनता हुआ भी नही सुनता । यह बात बिलकुल उल्टी है । समझ से परे है । आपको कहा जाए कि आखे मूदकर देखो, नही दिखेगा । हमारी इन्द्रिया इतनी क्षीण होती है कि थोड़ा-सा भी व्यवधान आया कि दर्शन रुक जाता है । यदि हम ऊपर चढ़कर देखते है तो पहाड दिखाई देता है परन्तु नीचे से नही दिखाई पड़ता है । कारण स्पष्ट है कि व्यवधान आ गया । दोपहर मे दीप जलता है परन्तु उसका प्रकाश नही दिखाई देता । अनन्त परमाणु चक्कर लगा रहे है पर दिखाई नही देते ।

अधूरा दर्शन . पूरा दर्शन

जहा समानाभिहार होता है, वहा आखो से नही देखा जा सकता है । मन

मे सरसों का एक बीज यदि डाल दिया जाए तो वह होते हुए भी दिखाई नही पड़ता। इसीलिए हमारे ऋषियो, मुनियों तथा दार्शनिकों ने कहा—आपका देखना अधूरा है। एक सड़क हमारे सामने है। यदि हम उसे दूर से देखते है तो वह केवल पतली-सी काली रेखा के समान ही दिखाई पड़ती है। यह दर्शन है ही नही। यह सही है कि दर्शन का अर्थ होता है देखना परन्तु देखना वही है जहा आंखे मूंदकर देखा जाए।

दर्शन का अर्थ है साक्षात्। जो मन को एकाग्र कर देखने का प्रयास करते है, वही सही देखना है। जहां दूरी सूक्ष्मता देखने मे बाधक नही बनती, वही देखना है। भगवान् महावीर ने कहा—जो मनुष्य क्रोध, मान, माया और लोभ पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। जब हम अपने आप में देखते है तब दर्शन पूर्ण हो जाता है। जहा चित्त को अपने आप मे केन्द्रित किया जाता है, वही है दर्शन। शेष सब तर्क का मायाजाल। यह सरल तो बहुत है परन्तु इसे पाने मे कठिनाई होती है, पर जिन्होने थोड़ा प्रयत्न किया, उन्हे मिला भी अवश्य।

निष्पत्ति दर्शन की

एक व्यक्ति सोते के पास खड़ा है। वह देखता है कि एक हिरणी पाव से लंगड़ाती हुई आती है और सोते मे पाव कुछ देर तक रखने के बाद पुन वापस चली जाती है। तीन दिनो तक यही क्रम चलता रहा और चौथे दिन हिरणी बिलकुल स्वस्थ हो गई। उस मनुष्य ने देखने का यत्न किया और उसी से प्राकृतिक चिकित्सा का जन्म हुआ। एक मनुष्य बीमार है। वह देखता है कि बच्चा 'ला-ला' का उच्चारण करत हुआ ज़ोरो से सास ले रहा है। उसने देखने का प्रयत्न किया, उससे स्वर-चिकित्सा (ट्यूनोपैथी) का जन्म हुआ। जिस किसी ने भी देखने का प्रयत्न किया शायद कभी व्यर्थ नही गया। बड़े-बड़े कहानीकार, कलाकार आदि जिन्होने भी इतनी ख्याति प्रान्त की, उन्होने एकाग्रता से देखने का प्रयत्न किया था। महाकवि कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का ऐसा सृजन किया है, जिसे पढ़कर जर्मन के कवि गेटे नाच उठा। हमारे यहा रामायण मे आता है कि हनुमान ने देखा, सूर्य अस्त हो रहा है, उनके मन मे वैराग्य की भावना उमड़ पड़ी। आज जैसा देखना चाहिए, वैसा नही देखा जा रहा है। जिसे पीलिया की बीमारी हो जाती है, उसे सब कुछ पीला ही पीला नजर आता है। आज इस बीमारी को मिटाने की आवश्यकता है। जीवन के प्रति दृष्टिकोण क्या हो, लोग इसे भूल गए। मेरे विचार से तो नब्बे प्रतिशत लोगो का जीवन के प्रति कोई दृष्टिकोण नही है। आप खाते है, पीते है, श्वास-नि श्वास लेते है केवल जीवित रहने के लिए, परन्तु किसलिए जीते है, यह नहीं बता सकते। हो सकता है कि मौत नहीं आ रही हो, इसीलिए जीवित रहते हो।

निवृत्ति पलायनवाद नहीं

[illegible]

है। यदि जीवन उद्देश्यपूर्वक होता है तो उसमें गति आती है, बिना उद्देश्य का जीवन लड़खड़ाता रहता है। मनुष्य खा लेता है परन्तु कब खाना चाहिए, क्यो खाना चाहिए, यह नही जानता। सास लेता है परन्तु कैसे लेना चाहिए, यह नही जानता। कोई मनुष्य धर्म को माने या नही परन्तु अपने अस्तित्व पर तो विचार करना ही चाहिए। एक समझदार व्यक्ति ने कहा—आत्मा पर मेरा विश्वास नही। यह भावुकता है, और कुछ नही। वास्तव मे चचलता के द्वारा कुछ नही हो सकता। जब तक हमारा मन स्थिर नही होता तब तक हम कुछ नही समझ सकते। हमारा निवृत्ति-धर्म पलायनवाद नही। चचलता मे फसकर लोग सत्य से दूर हो जाते है। सत्य के निकट हो सके, इसी का नाम निवृत्ति है।

दृष्टिकोण स्पष्ट बने

लोग दर्शन को भूलभुलैया मानकर चलते है परन्तु ऐसी बात नही है। आज दार्शनिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है। प्रत्येक काम मे दर्शन की आवश्यकता है। जिस प्रकार एक लगड़ा आदमी लाठी के सहारे चलता है उसी प्रकार यदि हमारे पास दर्शन का अलम्बन हो तो हम सत्य तक अवश्य पहुच सकते है। १ आत्मा है, २ वह अमर है, ३ अपना किया हुआ फल अपने आप भुगतना पड़ेगा—चाहे इहलोक मे, चाहे परलोक मे, जिसमे इन तीनो तथ्यो के प्रति अटूट विश्वास है, वह मनुष्य बुराइयो से घबराएगा।

एक आदमी गाली देता है। दूसरी ओर सामने वाला देखता है। ऐसा क्यो ? उसे भी क्रोध आना चाहिए। उत्तर मिलता है—पीटता तो नही। वास्तव मे उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण है। जीवन के प्रति मनुष्य का स्थिर और निश्चित दृष्टिकोण होना चाहिए। धार्मिक के लिए तो और भी आवश्यक है। जीवन दर्शन के प्रति और दर्शन जीवन के प्रति सजग होना चाहिए हमे सजगता के साथ समझने तथा देखने का प्रयत्न करना चाहिए।

दर्शन और बुद्धिवाद

जीवन के प्रति हमारा जो दृष्टिकोण है, वह छिछला है और स्थूल है। इसका कारण यही है कि हम दर्शन को उतना महत्त्व नहीं देते, जितना बुद्धि को देते है। दर्शन हमारा प्रत्यक्ष है और बुद्धि परोक्ष। दर्शन में कोरी यथार्थता है, सजावट नही। बुद्धि मे यथार्थता की अपेक्षा सजावट अधिक है। दर्शन का मार्ग ऋजु है, बुद्धि का घुमावदार। मनुष्य बहुत बार सजावट और घुमाव को अधिक पसन्द करता है इसीलिए वह बुद्धिवादी बनना चाहता है, दार्शनिक नही। सच तो यह है कि आज का दार्शनिक भी निरा बुद्धिवादी है, जो बुद्धि के सहारे तत्त्वो का विश्लेषण करता है, जगत् के अस्तित्व की व्याख्या करता है, वह दार्शनिक नही है किन्तु बुद्धिमान है। दार्शनिक वह होता है, जो अपने दर्शन या प्रत्यक्ष ज्ञान के सहारे तत्त्व-निरूपण करे, विश्व की व्याख्या दे। जो अग्नि को प्रत्यक्ष देखता है, उसके लिए हेतु या तर्क आवश्यक नही होता। वह उसी के लिए आवश्यक होता है, जो अग्नि को धुए के द्वारा जानता है। दार्शनिक के लिए तर्क या बुद्धि का उपयोग नही है। वह प्रत्यक्षदर्शी होता है। जो इनका उपयोग करता है, वही सही अर्थ मे दार्शनिक नही है किन्तु बुद्धिवादी है। आज दर्शन शब्द का अर्थ-परिवर्तन हो गया है। परोक्षदर्शी लोगो ने दर्शन की व्याख्या की, वह बुद्धि के द्वारा की इसलिए दर्शन बुद्धिवाद का माया-जाल बन गया।

दर्शन का आरंभ विन्दु

क्रोध, अभिमान, माया और लोभ ये चिन्तन के आतरिक दोष है। ये देश, काल और मात्रा भेद के अनुसार बुद्धि द्वारा समर्थित भी है। बुद्धि के अस्तित्व का इन जैसा सुदृढ़ स्तम्भ दूसरा कोई नही है। क्रोध, अभिमान, माया और लोभ ये क्षीण होते है तब दर्शन का प्रारम्भ होता है। तात्पर्य की भाषा मे जहा बुद्धि का अन्त होता है, वहा दर्शन का आरम्भ होता है।

बुद्धि भौतिक वस्तु है और दर्शन आध्यात्मिक। जो आत्मा और उसके अनन्य चैतन्य में विश्वास नहीं करता, उसके लिए दर्शन बुद्धि का पर्यायवाची होता है। आत्मवादी के लिए इनमें बहुत बड़ा अन्तर है—बुद्धि [illegible] और [illegible] होती है, दर्शन अनन्त [illegible]।

स्व-दर्शन : पर-दर्शन

कुछ लोगो की ऐसी मान्यता है कि पहले दार्शनिक ज्ञान विकसित हुआ, फिर धर्म की उत्पत्ति हुई। किन्तु मै ऐसा नही मानता। मै धर्म को दर्शन का साधन मानता हू। धर्म से दर्शन की उत्पत्ति होती है किन्तु दर्शन से धर्म की उत्पत्ति नही होती। दर्शन हमारी प्रत्यक्ष चेतना का विकास है और धर्म उसका साधन। जब तक हमारा दर्शन अपूर्ण होता है तब तक हमारे लिए दर्शन और धर्म भिन्न होते है। जब हम पूर्ण द्रष्टा बन जाते है तब हमारा धर्म हमारे दर्शन मे विलीन हो जाता है; वहा साध्य और साधन का भेद समाप्त हो जाता है। साधना-काल मे जो साधन होता है, वह सिद्धि-काल मे स्वभाव बन जाता है। दर्शन की साधना करते समय धर्म हमारा साधन होता है और उसकी सिद्धि होने पर धर्म हमारा स्वभाव बन जाता है—हमसे अभिन्न हो जाता है। जिस दर्शन की मैने चर्चा की है, उसे स्व-दर्शन या आत्म-दर्शन कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त जैन, बौद्ध और वैदिक आदि जितने दर्शन है, वे सब पर-दर्शन है अर्थात् बुद्धि द्वारा गृहीत दर्शन हैं। जो दर्शन धर्म द्वारा प्राप्त होता है वह स्व-दर्शन होता है और जो बुद्धि द्वारा प्राप्त होता है, वह पर-दर्शन होता है। स्व-दर्शन से आत्मा प्रकाशित होती है और पर-दर्शन से परम्परा का विकास होता है।

आत्मा का स्पर्श करती हुई हमारी जो आस्था है, ज्ञान और तन्मयता है, वही धर्म है। इसी धर्म की आराधना से दर्शन का उदय होता है। जो लोग इस आत्म-दर्शन का स्पर्श नही करते उनमे बौद्धिक विकास प्रचुर हो सकता है पर दर्शन का उदय नही होता।

बुद्धिवाद की समस्या

दर्शन प्रत्यक्ष होता है, आभास से मुक्त होता है। बुद्धि मे आभास होता है, सशय भी होता है और विपर्यय भी होता है। बुद्धि हमारा अत्यन्त समाधायक साधन नही है, वह कामचलाऊ अस्त्र है। उसके निष्कर्ष अनेक द्वारो से निकलते है। न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धात की स्थापना की। आइन्स्टीन ने सापेक्षवाद की स्थापना कर उसकी व्याख्या मे परिवर्तन ला दिया। फिर भी आइन्स्टीन के गुरुत्वाकर्षण सम्बन्धी नियमो का प्रयोग जब नक्षत्रीय समस्याओ के समाधान के लिए किया जाता है, तब ठीक वही परिणाम निकलते है, जो न्यूटन के नियमो के प्रयोग से निकलते है।

भू-भ्रमण के बारे मे अनेक मत है। बुद्धि के द्वारा उन्हे कोई निश्चित रूप नही दिया जा सका। बुद्धिवाद अपने युग मे नया रूप लाता है और चमत्कार उत्पन्न करता है। चिरकाल के बाद वह बूढ़े आदमी की तरह जीर्ण हो जाता है। कोपरनिकस का भू-भ्रमण का सिद्धात एक दिन बहुमूल्य था किन्तु सापेक्षवाद की स्थापना के बाद अल्पमूल्य हो गया। लिओपोल्ड इन्फेल्ड के शब्दो मे– 'कोपरनिकस और टॉलमी के सिद्धान्त के विषय

दर्शन और बुद्धिवाद

जीवन के प्रति हमारा जो दृष्टिकोण है, वह छिछला है और स्थूल है। इसका कारण यही है कि हम दर्शन को उतना महत्त्व नही देते, जितना बुद्धि को देते है। दर्शन हमारा प्रत्यक्ष है और बुद्धि परोक्ष। दर्शन में कोरी यथार्थता है, सजावट नही। बुद्धि मे यथार्थता की अपेक्षा सजावट अधिक है। दर्शन का मार्ग ऋजु है, बुद्धि का घुमावदार। मनुष्य बहुत बार सजावट और घुमाव को अधिक पसन्द करता है इसीलिए वह बुद्धिवादी बनना चाहता है, दार्शनिक नही। सच तो यह है कि आज का दार्शनिक भी निरा बुद्धिवादी है, जो बुद्धि के सहारे तत्त्वो का विश्लेषण करता है, जगत् के अस्तित्व की व्याख्या करता है, वह दार्शनिक नही है किन्तु बुद्धिमान है। दार्शनिक वह होता है, जो अपने दर्शन या प्रत्यक्ष ज्ञान के सहारे तत्त्व-निरूपण करे, विश्व की व्याख्या दे। जो अग्नि को प्रत्यक्ष देखता है, उसके लिए हेतु या तर्क आवश्यक नही होता। वह उसी के लिए आवश्यक होता है, जो अग्नि को धुए के द्वारा जानता है। दार्शनिक के लिए तर्क या बुद्धि का उपयोग नही है। वह प्रत्यक्षदर्शी होता है। जो इनका उपयोग करता है, वही सही अर्थ मे दार्शनिक नहीं है किन्तु बुद्धिवादी है। आज दर्शन शब्द का अर्थ-परिवर्तन हो गया है। परोक्षदर्शी लोगो ने दर्शन की व्याख्या की, वह बुद्धि के द्वारा की इसलिए दर्शन बुद्धिवाद का माया-जाल बन गया।

दर्शन का आरंभ बिन्दु

क्रोध, अभिमान, माया और लोभ ये चिन्तन के आतरिक दोष है। ये देश, काल और मात्रा भेद के अनुसार बुद्धि द्वारा समर्थित भी है। बुद्धि के अस्तित्व का इन जैसा सुदृढ़ स्तम्भ दूसरा कोई नही है। क्रोध, अभिमान, माया और लोभ ये क्षीण होते है तब दर्शन का प्रारम्भ होता है। तात्पर्य की भाषा मे जहा बुद्धि का अन्त होता है, वहा दर्शन का आरम्भ होता है।

बुद्धि भौतिक वस्तु है और दर्शन आध्यात्मिक। जो आत्मा और उसके अनन्य चैतन्य मे विश्वास नही करता, उसके लिए दर्शन बुद्धि का पर्यायवाची होता है। आत्मवादी के लिए इनमे बहुत वड़ा अंतर है—बुद्धि शात और ससीम होती है, दर्शन अनन्त और असीम।

स्व-दर्शन . पर-दर्शन

कुछ लोगो की ऐसी मान्यता है कि पहले दार्शनिक ज्ञान विकसित हुआ, फिर धर्म की उत्पत्ति हुई। किन्तु मै ऐसा नही मानता। मै धर्म को दर्शन का साधन मानता हू। धर्म से दर्शन की उत्पत्ति होती है किन्तु दर्शन से धर्म की उत्पत्ति नहीं होती। दर्शन हमारी प्रत्यक्ष चेतना का विकास है और धर्म उसका साधन। जब तक हमारा दर्शन अपूर्ण होता है तब तक हमारे लिए दर्शन और धर्म भिन्न होते है। जब हम पूर्ण द्रष्टा बन जाते है तब हमारा धर्म हमारे दर्शन मे विलीन हो जाता है, वहा साध्य और साधन का भेद समाप्त हो जाता है। साधना-काल में जो साधन होता है, वह सिद्धि-काल मे स्वभाव बन जाता है। दर्शन की साधना करते समय धर्म हमारा साधन होता है और उसकी सिद्धि होने पर धर्म हमारा स्वभाव बन् जाता है—हमसे अभिन्न हो जाता है। जिस दर्शन की मैने चर्चा की है, उसे स्व-दर्शन या आत्म-दर्शन कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त जैन, बौद्ध और वैदिक आदि जितने दर्शन है, वे सब पर-दर्शन है अर्थात् बुद्धि द्वारा गृहीत दर्शन हैं। जो दर्शन धर्म द्वारा प्राप्त होता है वह स्व-दर्शन होता है और जो बुद्धि द्वारा प्राप्त होता है, वह पर-दर्शन होता है। स्व-दर्शन से आत्मा प्रकाशित होती है और पर-दर्शन से परम्परा का विकास होता है।

आत्मा का स्पर्श करती हुई हमारी जो आस्था है, ज्ञान और तन्मयता है, वही धर्म है। इसी धर्म की आराधना से दर्शन का उदय होता है। जो लोग इस आत्म-दर्शन का स्पर्श नही करते उनमे बौद्धिक विकास प्रचुर हो सकता है पर दर्शन का उदय नही होता।

बुद्धिवाद की समस्या

दर्शन प्रत्यक्ष होता है, आभास से मुक्त होता है। बुद्धि मे आभास होता है, सशय भी होता है और विपर्यय भी होता है। बुद्धि हमारा अत्यन्त समाधायक साधन नही है, वह कामचलाऊ अस्त्र है। उसके निष्कर्ष अनेक द्वारो से निकलते है। न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धात की स्थापना की। आइन्स्टीन ने सापेक्षवाद की स्थापना कर उसकी व्याख्या मे परिवर्तन ला दिया। फिर भी आइन्स्टीन के गुरुत्वाकर्षण सम्बन्धी नियमों का प्रयोग जब नक्षत्रीय समस्याओ के समाधान के लिए किया जाता है, तब ठीक वही परिणाम निकलते है, जो न्यूटन के नियमो के प्रयोग से निकलते है।

भू-भ्रमण के बारे मे अनेक मत है। बुद्धि के द्वारा उन्हे कोई निश्चित रूप नही दिया जा सका। बुद्धिवाद अपने युग मे नया रूप लाता है और चमत्कार उत्पन्न करता है। चिरकाल के बाद वह बूढ़े आदमी की तरह जीर्ण हो जाता है। कोपरनिकस का भू-भ्रमण का सिद्धात एक दिन बहुमूल्य था किन्तु सापेक्षवाद की स्थापना के बाद अल्पमूल्य हो गया। लिओपोल्ड इन्फेल्ड के शब्दो मे— 'कोपरनिकस और टॉलमी के सिद्धान्त के विषय

में निर्णय करना अब निरर्थक है। वास्तव मे दोनो के सिद्धांतों की विशेषता का अब कोई महत्त्व नही। पृथ्वी घूमती है और सूर्य स्थिर है या पृथ्वी स्थिर है और सूर्य घूमता है— इन दोनो का कोई अर्थ नही है। कोपरनिकस की महान् खोज आज केवल इतने ही वक्तव्य में समाने जितनी रह गई है कि कुछेक प्रसगो में नक्षत्रों की गति का सम्बन्ध सूर्य के साथ जोड़ने की अपेक्षा पृथ्वी के साथ जोड़ना अधिक सुविधाजनक है।'

बुद्धिवाद की अपूर्णता

मतानैक्य और उत्तरवर्ती सिद्धान्त के द्वारा पूर्ववर्ती सिद्धान्त का निरसन– ये दोनो बुद्धिवाद की सहज अपूर्णताए है। दर्शन वही है जहां मतैक्य हो उत्तर के द्वारा पूर्व का समर्थन हो।

बुद्धिवाद अपूर्ण इसलिए होता है कि वह परोक्ष है। दर्शन प्रत्यक्ष होता है इसलिए वह पूर्ण है। बुद्धिवाद की उत्पत्ति इन्द्रिय और मन के जगत् मे होती है, जो स्वय चैतन्यमय नहीं है बल्कि चैतन्य के वाहक है। दर्शन की उत्पत्ति आत्मिक जगत् में होती है, जो स्वयं चैतन्यमय है।

बुद्धि और अनुभूति

आधुनिक युग वैज्ञानिक एव बौद्धिक युग है । जो भी कहा जाता है, उसे बुद्धि से परखा जाता है और तर्क की कसौटी पर कसा जाता है लेकिन बुद्धि खतरा है ।

दो खतरे

दुनिया मे दो खतरे है– शस्त्र और शास्त्र । इस दुनिया मे मनुष्य ने जब से शस्त्र का आविष्कार किया है तभी से वह भयभीत है । जैसे-जैसे शस्त्रो का विकास हुआ है मनुष्य का भय भी बढ़ा है । अणुशस्त्र वालो को जाने कब कुबुद्धि आ जाए और कब प्रलय हो जाए । मनुष्य भय से त्रस्त है, अरक्षित है कि जाने कब क्या हो जाए ।

दूसरा खतरा है शास्त्र । शास्त्र मे केवल एक मात्रा का ही फर्क है । "शासनात् त्राणशक्तेश्च शास्त्रमित्युच्यते बुधै ।" शास्त्र के दो लाभ बताये जाते है कि एक तो वह अनुशासन करता है और दूसरा लाभ यह है कि वह त्राण देता हैं, रक्षा करता है । शस्त्र भी त्राण देने के लिए ही बनाए गये थे । हमारी बौद्धिकता शास्त्र और शस्त्र—दोनो मे है, क्योकि बौद्धकता के बिना शस्त्र का भी विकास नही होता है । जैसे-जैसे मनुष्य मे बुद्धि का विकास होता गया है वैसे-वैसे शस्त्रो का भी विकास हुआ है । डेकन कालेज, पूना के पुरातत्त्व विभाग मे पत्थर के शस्त्रो का इक्कीस लाख वर्ष पुराना इतिहास देखा और आधुनिक युग के उद्‌जन बमो के बारे मे भी पढ़ा-सुना है । शस्त्रो का यह विकास बुद्धि के विकास के साथ-साथ हुआ है ।

खतरा है बुद्धि

बुद्धि बहुत बड़ा खतरा है । पाडित्य और बौद्धिकता का खतरा साक्षात् एव प्रत्यक्ष अनुभव नही होता । शस्त्र का खतरा दिखाई देता है, शास्त्र का नही । इसीलिए शंकराचार्य ने कहा था कि 'अन्य वासनाओ के खतरे से बचना आसान है किन्तु शास्त्र-वासना से मुक्त होना सम्भव नही ।' धर्म का तेज कम होने का मुख्य कारण है—बुद्धि का आग्रह । शब्दो की पकड़ भारी होती है । अनेक व्यक्ति शब्द की भावना या हार्द को नही समझते—उसकी आत्मा को नही पकड़ पाते । केवल शब्दों की छीछालेदर करने वाले आत्मा तक कभी नही पहुचे, स्थूल मे ही लगे रहे ।

चार पडित काशी से बारह वर्ष पढ़कर आए किन्तु केवल शब्द रटे, हृदय तक

नही पहुँच पाए। नदी के पार ऊट को तेजी से दौड़ता देखकर एक ने सोचा—'धर्म की गति तीव्र कही गई है अतः यह दौड़ने वाला ही धर्म है।' दूसरे पडित ने श्मशान पर गधे को खड़ा देखकर श्लोक याद करते हुए सोचा— 'राजद्वार और श्मशान पर मिलने वाले को अपना इष्ट मानना चाहिए अतः यह गधा हमारा भाई है।' तीसरे ने गधे और ऊट को एक साथ इसलिए बाध दिया कि इष्ट को धर्म के साथ जोड़ देना चाहिए और चौथे ने नदी पार करते समय अपने पंडित मित्रो को डूबते देखकर तलवार से उनका सिर काट लिया, क्योकि सम्पूर्ण नष्ट होने मे से आधा बचा लेना बुद्धिमानी है।

इन चारो मूर्खो ने शास्त्र का कही उल्लघन नही किया। शास्त्र के शव्दो और श्लोको का आधार लिया। आज भी धर्म के समवन्ध मे पडित लोग शास्त्रो का प्रमाण देते है। विधि-निषेध और शास्त्रो का विधान बताकर छुआछूत, शूद्र के वेद सुनने पर कान मे पिघलता शीशा डाल देना आदि का औचित्य सिद्ध करते है। यदि आत्मानुभूति का प्रसग होता तो शास्त्रो की दुहाई नही चलती। धर्म अपने अनुभव के आधार पर कहा जाता है। अहिसा अच्छी है किन्तु क्या महावीर, गौतम और कृष्ण के कहने से ही ? तुम स्वय अपनी आत्मा से पूछो। अपना सही विश्वास अहिसा पर करो, जीवन मे उतारो और फिर अनुभव से कहो कि अहिसा सचमुच अच्छी है।

वह दार्शनिक है

शास्त्र की वाणी दोहराई जाती है परन्तु आत्मानुभव दोहराया नही जाता। बुद्धि का पृष्ठ जहा समाप्त होता है, धर्म वही से प्रारम्भ होता है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि की समाप्ति ही धर्म का प्रारम्भ है। आज हमारा धर्म बौद्धिक बनकर रह गया है, निरा बौद्धिक व्यायाम हो गया है। भारतीय ग्रन्थो को पढ़कर लगता है कि वे दर्शन नही, बौद्धिक ग्रथ है। पिछले लगभग एक हज़ार वर्षो के सभी ग्रथो में बौद्धिक युग है। विगत लगभग बारह सौ वर्षो का युग नैयायिक एव तार्किक युग है। दार्शनिक ग्रथ द्रष्टा के द्वारा लिखे जाते है, लिखने वाला आत्मद्रष्टा होता है। 'दर्शनाद् ऋषि' जो देखता नही, वह दर्शनकार नही हो सकता। आज का दार्शनिक केवल ज्ञानी और बौद्धिक है, दार्शनिक नही। जब हम अपनी इन्द्रियो और मन को वश मे करके आत्मानुभूति की गहराई तक जाते है तो दर्शन प्राप्त होता है। जो ध्यान नही करता, निदिध्यासन नही करता, वह दार्शनिक नही हो सकता।

समाधान है आत्मानुभूति

धर्म की समस्या नही सुलझने का कारण आत्मानुभूत धर्म का अभाव। इस समस्या का कारण है कोरा बौद्धिकता का धर्म। वुद्धि का काम है स्पर्धा पैदा करना और जहा स्पर्धा है वहा समस्या है। सभी वर्गो मे यह समस्या अर्थ, पद आदि के लिए देखी जाती है और इसीलिए वहा समस्याए भी उभरती है।

डिग्री, अर्थ आदि का भेद बुद्धि करती है इसलिए ज्ञान से लोग घबराते है। बुद्धि और ज्ञान को दु ख का कारण समझने लगे, किन्तु सच्चा ज्ञान दु ख का कारण नही, सुख का हेतु है। ज्ञान के दो साधन प्रचलित है—सुनना और पढ़ना। ये दोनो ही साधन परिस्थिति से प्रभावित होते है और बाहर से ओढ़े हुए होते है। बाहर से आया हुआ कर्ज है, ऋण है। इसीलिए यह बाहरी ज्ञान बुद्धि को पराभूत एव विचारो को विशृंखल करता है। ज्ञान वह है, जो आत्मा से फूटे और उसकी रश्मिया बाहर को आलोकित करे। ज्ञान के सम्बन्ध मे बौद्धिकता के द्वारा ही भ्राति आयी है। बुद्धि लड़ाई का कारण बनी। जितने वकील है वे लड़ाना जानते है, लड़ाते है। यह जरूर है कि बुद्धि ने लड़ाना भी सभ्यता से सिखाया है। आज सारी दुनिया शीत-युद्ध से घबराती है, आक्रान्त है। घाव पर मुलम्मा चढ़ा दिया गया किन्तु वह भीतर ही भीतर कैसर का रूप ग्रहण कर रहा है। इस बुद्धिवाद से जो कठिनाइया पैदा हो रही है, उनका समाधान आत्मानुभूति से ही प्राप्त हो सकेगा। इसके लिए धर्म और अध्यात्म को जानना होगा। धर्म बाहर की समस्याओं का भी अन्तर से ही समाधान देता है।

वर्णमाला का पहला अक्षर

अपनी आत्मानुभूति के तार को दूसरे की आत्मानुभूति के तार से जोड़ना ही धर्म है। प्राणीमात्र के प्रति तीव्र अनुभूति और एकता की अनुभूति ही धर्म है। बाहर मे धर्म नही है। धर्म भीतर अनुभूति की गहराई तक पहुचकर बुद्धि के द्वारा प्रस्तुत कठिनाइयो से बचाता है। हमें जागने की जरूरत है। ऋषियो ने कहा—"उतिष्ठत जागृत—उठो, जागो।" जागते हो तभी जीवन है।

भिक्षु स्वामी के सामने सामायिक करते हुए श्रावक आसोजी नीद ले रहे थे। भिक्षु स्वामी ने पूछा—"आसोजी! नीद ले रहे हो ?"

"नही, महाराज!" आसोजी ने सचेत होते हुए झूठा जवाब दिया। थोड़ी देर मे फिर नीद लेने लगे तो भिक्षु स्वामी ने टेका—"आसोजी! नीद ले रहे हो ?" इस बार भी उन्होने ना कर दी। तीसरी बार नीद लेने पर भिक्षु स्वामी ने पूछा—'आसोजी! जी रहे हो ?"

उन्होने उसी प्रकार नकारात्मक जवाब दिया—"नही, महाराज!" सब हँस पड़े और आसोजी लज्जित हो गये।

सचमुच नीद लेने वाला जीता नही। जीता वह है, जो जागता है। जागरण आत्मानुभूति का फल है। इन्द्रिया, मन और बुद्धि का द्वार बन्द कर भीतर जाने का फल है धर्म और जीवन। अपने अन्दर मे जाने का प्रारम्भ अध्यात्म की वर्णमाला का प्रथम अक्षर है। इसके अभाव मे अध्यात्म की पुस्तक का प्रथम पृष्ठ ही अधूरा है।

समाज-व्यवस्था में दर्शन

समाज, व्यवस्था और दर्शन तीनों जटिल और कुटिल शब्द है। आदि मे समाज है, अन्त मे दर्शन और बीच मे व्यवस्था बैठी है। व्यक्ति आज भी जितना व्यक्ति है, उतना सामाजिक नही है। व्यवस्था स्वय मे सहज नही है। दर्शन परीक्षा की साक्षात् अनुभूति के लिए व्यवहृत होता है।

जैन आगमो की भाषा मे समाज कल्पना है। व्यक्ति अकेला आता है और अकेला ही जाता है। अनुभूति भी अपनी अपनी होती है। एक की अनुभूति दूसरे की नही होती। विज्ञान भी अकेले को होता है। सत्य व्यक्ति है, समाज नही।

उपनिषद् में कहा है—'द्वितीयाद् वै भयम्।' अकेला अभय था, दूसरा आया कि भय हो गया। 'मर्त्यो स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति'—नानात्व को देखने वाला मृत्यु को प्राप्त होता है।

वास्तविक सत्य है व्यक्ति

सचाई भी यही है। समाज कल्पना-प्रसूत सत्य है, वास्तविक सत्य है व्यक्ति। आदि से आज तक समाजशास्त्रियो ने सामाजिकता की गाथाए गायी है पर उनके संस्कार आज भी अपरिपक्व है, जितने वैयक्तिक है उतने सामाजिक नही है। जहा समाजवाद हो वहा भी थोड़ा-सा नियत्रण शिथिल होते ही वैयक्तिक भाव पनप उठते है। व्यवस्था की दशा लगभग ऐसी है। प्रत्येक पदार्थ मे अवस्था होती है। जैन दर्शन की भाषा मे उसे पर्याय कहते है। वह अचेतन मे भी होती है, चेतन मे भी होती है। वह बद्धजीव मे भी होती है और मुक्त मे भी होती है। व्यवस्था वैभाविक पर्याय है, सहज नही। वह करनी होती है। सापेक्षता की ओर झुकाव होता है, तब व्यवस्था आती है। समाज माना हुआ सत्य है, पर सम्मत सत्य को एकान्त असत्य नही कहा जा सकता।

एकोहम बहु स्याम्

चिन्तन का प्रवाह कालचक्र की तरह उत्सर्पण और अवसर्पण करता है। एक दिन व्यक्ति व्यक्ति था, अवस्था अवस्था थी और दर्शन दर्शन था। उपनिषद् की भाण मे—

बहुत हो गया। मनुष्य कभी जगल मे रहता था। उस स्थिति से ऊबकर वह गाव मे आया। अब वह गाव मे भी जगल ला रहा है। नई दिल्ली मैं मैने देखा—एक कोठी जगल से घिरी है, मनुष्य की जो चिरपरिचित आदत है, अभी नही छूटी है, इसीलिए वह गाव मे भी जगल ला रहा है।

एक समय लोग दाढ़ी और मूछ रखते थे। बीच मे सफाई का युग आया और अब पुन दाढ़ी-मूछ का युग आ रहा है। यह आवर्तन और प्रत्यावर्तन होता ही रहता है।

समाज बनता है सापेक्षता से

सापेक्षता से ही समाज बनता है। समज और समाज मे यही तो भेद है। पशुओ का समूह समज कहलाता है और समाज उन मनुष्यो का समूह होता है, जिनमे सापेक्षता होती है। समाज हो और सापेक्षता न हो, वह समाज नही, अस्थि-संघात मात्र है। समाज का आधार है परस्पराबलम्बन, परस्पर-सहयोग। समाज मे व्यवस्था का जन्म होता है। व्यवस्था भली-भाति चले इसलिए शासन आता है। सापेक्षता, व्यवस्था और शासन—ये तीन व्यवस्थाए जहा हो, वहा दस आदमी मिलने पर भी समाज बन जाता है, अन्यथा लाख आदमी होने पर भी समाज नही बनता।

दर्शन शब्द का अर्थ-विस्तार हुआ है। एक समय आत्मोपलब्धि और सत्य के साक्षात्कार को दर्शन कहा जाता था। द्रष्टा की प्रत्यक्ष अनुभूति के लिए दर्शन शब्द व्यवहृत होता था पर आज परोक्षानुभूति मे भी वह व्यवहृत होने लगा है।

निरपेक्षता के परिणाम

व्यक्ति सामाजिक होने पर भी व्यक्ति ही है, इसलिए वह समाज मे रहते हुए भी निरपेक्षता चाहता है और शासनहीन राज्य की कल्पना करता है, यह अस्वाभाविक भी नही है। निरपेक्षता से मुक्त सापेक्षता और सापेक्षता से मुक्त निरपेक्षता हो ही नही सकती। जो कोई भी सत् है, वह सत्-प्रतिपक्ष है। प्रकाश और अन्धकार, न्याय और अन्याय, आरोग्य और रोग, ये सब सत्-प्रतिपक्ष है। अकेला शब्द शून्य होता है। सामाजिक प्राणी सर्वथा निरपेक्ष हो, ऐसा हो ही नही सकता। यह भी असम्भव है कि व्यक्ति का स्वतत्र अस्तित्व हो और वह सर्वथा सापेक्ष ही हो। निरपेक्षता को न जानने वाला शान्ति का मर्म जान ही नही पाता। अहिसा, अपरिग्रह और सचाई—ये सब निरपेक्षता के ही परिणाम है।

एक दल या सम्प्रदाय के लोग साथ रहते है। वे सापेक्ष ही हो और निरपेक्ष न हो तो कलह हो जाता है। एक बड़े परिवार वाले व्यक्ति से मैंने पूछा—आपका परिवार इतना बड़ा है, कैसे एक साथ रह रहे है ? उसने उत्तर दिया

कभी से अलग-अलग चूल्हे जल जाते। सन्तुलन के लिए सापेक्ष के साथ निरपेक्ष भाव हो—यही दर्शन की देन है।

व्यवस्था : अव्यवस्था

व्यवस्था समाज के लिए आवश्यक है, वैसे अव्यवस्था भी। गति और प्रगति के लिए अव्यवस्था आवश्यक है। स्कन्ध भी संघात और भेद से बनता है, केवल सघात ही हो तो सारा विश्व पिण्ड वन जाए। हाथ की पाचो अंगुलियो का पिण्ड एक हो जाय तो उनकी कोई उपयोगिता नही रह सकती। भिन्नता मे ही उनकी उपयोगिता है। कोरे भेद से भी काम नही चलता। अणु-अणु विखर जाए तो जीवन दूभर बन जाए। सघात और भेद से स्कन्ध बनता है, वही हमारे लिए उपयोगी होता है। अव्यवस्था का अर्थ है—अवस्था । कोरी व्यवस्था से समाज जड़ बन जाता है, क्योकि व्यवस्था कृत है, नैसर्गिक नही। नैसर्गिकता स्वयं अवस्था बन जाए तब व्यवस्था की आवश्यकता ही न रहे।

शासन मुक्त समाज की अपेक्षाएं

शासन-प्रणाली भी आयी है। समाज ने उसे आवश्यक माना और वह आ गई। एक समय मनुष्य ने शासन की कल्पना की, राज्य बन गया, शासक बन गए। मार्क्स की अन्तिम कल्पना है—शासन-मुक्त राज्य हो। यह कल्पना मार्क्स की नयी नही है। जैन आगमो मे 'अह इन्द्र' का उल्लेख है। वहां सब इन्द्र है, कोई सेवक या पदाति नही। प्रेष्य और प्रेषक भाव भी नही है। वह शासनमुक्त समाज का चित्र है। किन्तु वे 'अह इन्द्र' इसलिए है कि उनके क्रोध, मान, माया और लोभ क्षीण है, स्वभाव से वे सन्तुष्ट है। शासनमुक्त राज्य के लिए ये अनिवार्य अपेक्षाएं है।

चाह स्वतंत्रता की

स्वाधीनता दर्शन की बहुत बड़ी देन है। सब लोग विचारों की स्वतन्त्रता चाहते है, लेखन और वाणी की स्वतन्त्रता चाहते है। स्वतन्त्रता का घोष प्रबल है। कोई पराधीनता नही चाहता। राजा शब्द इतिहास और शब्दकोश का विषय बन गया है, वैसे ही नौकर शब्द भी अतीत की वस्तु बनता जा रहा है। इसका अर्थ है कि निरपेक्षता आ रही है। सापेक्ष की कड़ी टूटने पर कोई बड़ी हानि नही, व्यवस्था न रहे तो कोई दोष नही; शासन न रहे तो कोई आपत्ति नही; यदि स्व-शासन आ जाए। स्व-शासक न शासन से शासित होता है और न शासन से मुक्त। 'कुसले पुण नो बद्धे नो मुक्के'—कुशल वह है जो न बद्ध होता है और न मुक्त। एक ही व्यक्ति जो न बंधा हुआ हो और न मुक्त हो, यह कैसे हो सकता है ? शासन छोड़ा नही जा सकता। शासन नही, वहा त्राण नही। कोई भी अत्राण रहना नही चाहता—इसलिए आत्मानुशासन आता है। कुशल इसलिए है कि वह परशासन से बद्ध नही है और आत्मानुशासन से मुक्त नही है।

व्यक्तिवादी मनोवृत्ति

आत्मानुशासन के मनोभाव को विकसित करना आवश्यक है। कही भी देखा जाए, ईर्ष्या है, स्पर्धा है, एक-दूसरे को नीचे गिराने का भाव है और असहनशीलता है। समाज में जहा सापेक्षता है, वहा ऐसा क्यों होता है, आज भी एक प्रश्नचिह्न बना हुआ है।

साम्यवादी शासनमुक्त समाज की कल्पना लेकर चलते है। वहा क्या होता है ? अपनी सुरक्षा और अपने प्रतिस्पर्धी का पतन। एक ओर शासन मुक्ति की कल्पना, दूसरी ओर इतना स्वार्थ-संघर्ष, यह दर्शन की दूरी नही तो और क्या है ?

व्यक्ति ने मान लिया, उत्कर्ष हो तो मेरा हो। मुख्य या शक्तिशाली मै ही बनूं। यह व्यक्तिवादी मनोवृत्ति ही सामाजिकता को वास्तविकता नही बनने देती, किन्तु आत्मानुशासन का विकास होने पर व्यक्ति व्यक्ति रहकर भी असामाजिक नही रहता।

समुद्र है व्यक्ति

व्यक्ति में जो स्व की सीमा है, उसे न समझकर वह अपने मे पर का आरोप कर लेता है। सक्रान्ति वेला में प्रत्येक वस्तु छोटी दीखती है। विशाल वस्तु भी दर्पण मे समा जाती है। व्यक्ति भी सोचता है, सारी सृष्टि मुझमे समाहित हो जाए, पर ऐसा सोचनेवाला सत्य के निकट नही पहुंच पाता है।

व्यक्ति समुद्र है। राग-द्वेष की उर्मिया उसमे कल्लोले कर रही है। वहा सत्य-दर्शन नही होता। उन उर्मियों से ऊपर आनेवाले की ही दृष्टि स्पष्ट हो सकती है, भीतर रहनेवाले की नही।

समाजवादी प्रणाली मे भी सत्ता कुछेक व्यक्तियो में केन्द्रित हो गई है। जनता अपने को असहाय-सी अनुभव करती है। अपना व्रत लेकर चलनेवाले कभी अत्राण नही होते।

शस्त्र शब्द में त्राण शक्ति की कल्पना है पर वह वास्तविक नही। भीषण आयुध रखनेवाले भी संत्रस्त है।

स्व शासन आए

दशार्णभद्र अपना ठाट-बाट लेकर भगवान महावीर के दर्शन के लिए चला। इन्द्र ने सेना की रचना की। राजा पराजित हो गया, त्राण अत्राण की अनुभूति करने लगा क्योंकि वह पर की सीमा मे चला गया था। अंत मे वह भगवान की शरण मे आया और विजयी बन गया। अब इन्द्र पैरों मे आ लुटा।

जो पर-शासन मे पराजित हो गया, वह स्व-शासन मे आ विजयी बन गया। समाज मे रहनेवाले स्व की सीमा मे चले। इस स्व-शासन का विकास होने पर समाज में व्यवस्था नही होगी किन्तु एक विशेष अवस्था होगी। नियम कृत्रिम नही होगा, किन्तु सहज होगा। प्रेरणा का मूल भय नही होगा किन्तु कर्तव्यनिष्ठा होगी।

कभी से अलग-अलग चूल्हे जल जाते। सन्तुलन के लिए सापेक्ष के साथ निरपेक्ष भाव हो—यही दर्शन की देन है।

व्यवस्था : अव्यवस्था

व्यवस्था समाज के लिए आवश्यक है, वैसे अव्यवस्था भी। गति और प्रगति के लिए अव्यवस्था आवश्यक है। स्कन्ध भी संघात और भेद से बनता है, केवल सघात ही हो तो सारा विश्व पिण्ड बन जाए। हाथ की पाचो अंगुलियो का पिण्ड एक हो जाय तो उनकी कोई उपयोगिता नही रह सकती। भिन्नता मे ही उनकी उपयोगिता है। कोरे भेद से भी काम नही चलता। अणु-अणु बिखर जाए तो जीवन दूभर बन जाए। सघात और भेद से स्कन्ध बनता है, वही हमारे लिए उपयोगी होता है। अव्यवस्था का अर्थ है—अवस्था । कोरी व्यवस्था से समाज जड़ बन जाता है, क्योकि व्यवस्था कृत है, नैसर्गिक नही। नैसर्गिकता स्वय अवस्था बन जाए तब व्यवस्था की आवश्यकता ही न रहे।

शासन मुक्त समाज की अपेक्षाएं

शासन-प्रणाली भी आयी है। समाज ने उसे आवश्यक माना और वह आ गई। एक समय मनुष्य ने शासन की कल्पना की, राज्य बन गया, शासक बन गए। मार्क्स की अन्तिम कल्पना है—शासन-मुक्त राज्य हो। यह कल्पना मार्क्स की नयी नही है। जैन आगमो मे 'अह इन्द्र' का उल्लेख है। वहां सब इन्द्र है, कोई सेवक या पदाति नही। प्रेष्य और प्रेषक भाव भी नही है। वह शासनमुक्त समाज का चित्र है। किन्तु वे 'अह इन्द्र' इसलिए है कि उनके क्रोध, मान, माया और लोभ क्षीण है, स्वभाव से वे सन्तुष्ट है। शासनमुक्त राज्य के लिए ये अनिवार्य अपेक्षाए है।

चाह स्वतंत्रता की

स्वाधीनता दर्शन की बहुत बड़ी देन है। सब लोग विचारों की स्वतन्त्रता चाहते है, लेखन और वाणी की स्वतन्त्रता चाहते है। स्वतन्त्रता का घोष प्रबल है। कोई पराधीनता नही चाहता। राजा शब्द इतिहास और शब्दकोश का विषय बन गया है, वैसे ही नौकर शब्द भी अतीत की वस्तु बनता जा रहा है। इसका अर्थ है कि निरपेक्षता आ रही है। सापेक्ष की कड़ी टूटने पर कोई बड़ी हानि नही, व्यवस्था न रहे तो कोई दोष नही, शासन न रहे तो कोई आपत्ति नही; यदि स्व-शासन आ जाए। स्व-शासक न शासन से शासित होता है और न शासन से मुक्त। 'कुसले पुण नो बद्धे नो मुक्के'—कुशल वह है जो न बद्ध होता है और न मुक्त। एक ही व्यक्ति जो न बंधा हुआ हो और न मुक्त हो, यह कैसे हो सकता है? शासन छोड़ा नही जा सकता। शासन नही, वहा त्राण नही। कोई भी अत्राण रहना नही चाहता—इसलिए आत्मानुशासन आता है। कुशल इसलिए है कि वह परशासन से बद्ध नही है और आत्मानुशासन से मुक्त नही है।

व्यक्तिवादी मनोवृत्ति

आत्मानुशासन के मनोभाव को विकसित करना आवश्यक है । कही भी देखा जाए, ईर्ष्या है, स्पर्धा है, एक-दूसरे को नीचे गिराने का भाव है और असहनशीलता है। समाज मे जहां सापेक्षता है, वहा ऐसा क्यो होता है, आज भी एक प्रश्नचिह्न बना हुआ है ।

साम्यवादी शासनमुक्त समाज की कल्पना लेकर चलते है । वहा क्या होता है ? अपनी सुरक्षा और अपने प्रतिस्पर्धी का पतन । एक ओर शासन मुक्ति की कल्पना, दूसरी ओर इतना स्वार्थ-सघर्ष, यह दर्शन की दूरी नही तो और क्या है ?

व्यक्ति ने मान लिया, उत्कर्ष हो तो मेरा हो । मुख्य या शक्तिशाली मै.ही बनू। यह व्यक्तिवादी मनोवृत्ति ही सामाजिकता को वास्तविकता नही बनने देती, किन्तु आत्मानुशासन का विकास होने पर व्यक्ति व्यक्ति रहकर भी असामाजिक नही रहता ।

समुद्र है व्यक्ति

व्यक्ति में जो स्व की सीमा है, उसे न समझकर वह अपने मे पर का आरोप कर लेता है । सक्रान्ति वेला में प्रत्येक वस्तु छोटी दीखती है । विशाल वस्तु भी दर्पण मे समा जाती है । व्यक्ति भी सोचता है, सारी सृष्टि मुझमे समाहित हो जाए, पर ऐसा सोचनेवाला सत्य के निकट नहीं पहुंच पाता है ।

व्यक्ति समुद्र है । राग-द्वेष की उर्मियां उसमे कल्लोले कर रही है । वहां सत्य-दर्शन नही होता । उन उर्मियो से ऊपर आनेवाले की ही दृष्टि स्पष्ट हो सकती है, भीतर रहनेवाले की नही ।

समाजवादी प्रणाली में भी सत्ता कुछेक व्यक्तियो मे केन्द्रित हो गई है । जनता अपने को असहाय-सी अनुभव करती है । अपना व्रत लेकर चलनेवाले कभी अत्राण नही होते ।

शस्त्र शब्द मे त्राण शक्ति की कल्पना है पर वह वास्तविक नही । भीषण आयुध रखनेवाले भी संत्रस्त है ।

स्व शासन आए

दशार्णभद्र अपना ठाट-बाट लेकर भगवान महावीर के दर्शन के लिए चला । इन्द्र ने सेना की रचना की । राजा पराजित हो गया, त्राण अत्राण की अुनभूति करने लगा क्योकि वह पर की सीमा मे चला गया था । अंत मे वह भगवान की शरण मे आया और विजयी बन गया । अब इन्द्र पैरो मे आ लुटा ।

जो पर-शासन मे पराजित हो गया, वह स्व-शासन मे आ विजयी बन गया । समाज मे रहनेवाले स्व की सीमा मे चले । इस स्व-शासन का विकास होने पर समाज मे व्यवस्था नही होगी किन्तु एक विशेष अवस्था होगी । नियम कृत्रिम नही होगा, किन्तु सहज होगा । प्रेरणा का मूल भय नही होगा किन्तु कर्तव्यनिष्ठा होगी ।

मुक्ति : समाज के धरातल पर

दर्शन के विषय मे हमारी कुछ धारणाएं है और हम मानते है कि वह विषय केवल कुछ लोगों के काम का है, जन-साधारण के काम का नहीं। सच तो यह है कि दर्शन के बिना हमारे जीवन का कोई भी काम नहीं चल सकता। चलने से पूर्व देखा जाता है, फिर चलते है। बड़े शहरों में तो इतनी कठिनाई है कि देखे बिना चला जाए तो दुर्घटना घटित हो सकती है। इसलिए पहले दर्शन और फिर चलना होता है।

तर्कशास्त्र और दर्शन

हमने तर्कशास्त्र और दर्शन को एक ही मान लिया, किन्तु दोनों एक नही है। दोनों मे बहुत अन्तर है। तर्कशास्त्र परोक्ष की पद्धति है। जो हमारे प्रत्यक्ष नही होता, उसे किसी हेतु से जानना तर्क है, किन्तु दर्शन मे प्रत्यक्षानुभूति वाले लोग नही है, क्योंकि दर्शन पढ़ने से नहीं, साधना से प्राप्त होता है। तर्कशास्त्र पढ़ने से प्राप्त हो जाता है। परोक्षानुभूति बुद्धि का विषय है। दर्शन बुद्धि से अतीत है जो चित्त को निर्मल, केन्द्रीभूत एव पवित्र करने में निहित है। दर्शन हमारे लिए आवश्यक है।

तर्कशास्त्र मे कहा गया है—"प्रत्यक्षं ज्येष्ठं प्रमाणम्।" जो प्रत्यक्ष है वह सबसे बड़ा प्रमाण है। परोक्ष गौण है। इसलिए सब इन्द्रियो मे आख को ज्यादा महत्त्व देते है।

प्रश्न है विचार के स्रोत का

भारत की तीन मुख्य दार्शनिक धाराए रही है—वैदिक, जैन और बौद्ध। इनके अतिरिक्त छोटे-छोटे प्रवाह तो अनेक रहे है। इन तीन मुख्य धाराओ मे अनेक बाते समान दिखाई देती है—महाव्रत, योग, साधना, ध्यान, तपस्या, मैत्री, प्रेम सब में आ गया है किन्तु दर्शन के इतिहास को जानने और पढ़ने वाला इन तीनों को एक नही मानता। वह जानता है कि कौन विचार कहा जन्मा, कहा पनपा और कहा विकसित हुआ ? एक विचार कही पनपता है, कही विकसित होता है और प्रभावशाली होने से उसे दूसरे भी स्वीकार कर लेते है। सामान्य लोग मानते है कि सब विचार ऐसे ही एक रूप मे सब धर्मो मे चलते रहे है।

संदर्भ मुक्ति का

भगवान पार्श्वनाथ को ले तो २८०० वर्ष के लगभग और भगवान् महावीर से चले तो २५०० वर्ष का जैन इतिहास होता है । उससे पहले का इतिहास रुकता है । जैन-दर्शन का भारतीय दर्शन के विकास में क्या योग है इस पर चिन्तन करे ।

वेदो मे निर्वाण—मोक्ष की बात नही मिलेगी । वहा केवल काम, अर्थ और धर्म—इस त्रिवर्ग की बात आती है । काम और अर्थ के बाद जो धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है वह समाज की व्यवस्था के सम्बन्ध मे प्रयुक्त हुआ है । मनुस्मृति आदि में इसका इसी रूप मे उल्लेख है । धर्माध्यक्ष, धर्मालय, धर्माधिराज आदि शब्दो का अनेक स्थानो पर व्यवस्था के लिए प्रयोग हुआ है । महाभारत के अन्त मे स्वय व्यासजी कहते है—"मै हाथ ऊचा उठाकर कह रहा हू कि धर्म से अर्थ और काम मिलता है, फिर भी लोग धर्म नही करते है ।" क्या धर्म से अर्थ और काम मिलेगा ? धर्म से मोक्ष मिल सकता है, अर्थ और काम नही मिल सकते । यह धर्म की विसगति है और आज भी ऐसी ही विसगति चल रही है कि धर्म से लोग पुत्र, धन आदि पाना चाहते है । मोक्ष-धर्म और व्यवस्था-धर्म के सम्मिश्रण से लोग उलझ गए । कल्पद्रुम के रूप मे धर्म का विवेचन करते हुए कहा गया है—"राज्य, सुन्दर स्त्री, सुन्दर लड़के, रूप, सरस कविता, स्वास्थ्य, कला, वाक्चातुर्य आदि सब कुछ धर्म से मिलेगा ।' यही कारण है कि धर्म त्रिवर्ग मे भी आया और पुरुषार्थ चतुष्ट्यी मे भी आ गया है । दोनो को मिलाने से अनिष्ट हो गया । लोकमान्य तिलक ने गीता-रहस्य मे लोक-धर्म और मोक्ष-धर्म का सुन्दर विवेचन किया है । आचार्य भिक्षु और तिलक के विचारो मे अद्‌भुत सामजस्य है ।

धर्म आत्मशुद्धि के लिए

जब निर्वाण की बात आयी तो धर्म का अर्थ-परिवर्तन हुआ । इसके पहले वैदिक चिन्तन मे स्वर्ग की धारा थी । निर्वाण का सिद्धात शक्तिशाली हुआ तब स्वर्गवादी धारा के साथ भी निर्वाण की धारा जुड़ गई । सूत्रकृताग मे महावीर की स्तुति मे कहा गया है—'निर्वाणवादियो मे ज्ञातपुत्र सर्वश्रेष्ठ है ।" इसका मतलब है कि वे स्वर्गवादी धारा मे श्रेष्ठ नही थे । इसका अर्थ हुआ— उस समय प्रवृत्ति और निवृत्ति दो धाराए थी । स्वर्गवादी धारा मे पुण्य का बहुत महत्त्व था । निर्वाणवादी धारा मे स्वर्ग और पुण्य दोनो को ज्यादा महत्त्व नही दिया गया । निर्वाणवाद मे साफ कहा है—'पुण्य, कीर्ति, पूजा, श्लाघा, प्रतिष्ठा, स्वर्ग आदि के लिए धर्म मत करो । आत्मशुद्धि और निर्वाण के लिए धर्म करो, क्योकि पुण्य भी बन्धन है ।'

अहिसा का मूल्य

इस निर्वाणधारा ने मुक्ति का स्वर प्रबल किया । वह समाज के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रचलित हो गया । अहिसा का विकास मुक्ति के लक्ष्य मे हुआ है । यदि मुक्ति का लक्ष्य

नही होगा तो अहिसा का मूल्य होगा केवल उपयोगिता । जहां वन्धन काटने का सवाल है वहा अहिसा का स्वतन्त्र मूल्य है । समाज की उपयोगिता के साथ अहिसा को जोड़ा जाता है तो उसका मूल्य सीमित हो जाता है ।

मुमुक्षा का मूल स्रोत

अपरिग्रह और सत्य का विकास अहिसा के आधार पर हुआ है । मुक्ति के सिद्धान्त से समाज मे स्वतन्त्रता का विकास हुआ । भगवान् ने कहा—'किसी को दास मत वनाओ, किसी पर हकूमत मत करो ।' उन्होने मुक्ति की दृष्टि से विचार किया तो लगा कि मुमुक्षा की भावना प्राणी की मौलिक मनोवृत्ति है, जिसे कभी ध्वस्त नही किया जा सकता है। इस मुमुक्षा का मूल स्रोत है, शरीर से भी मुक्त होना । शरीर से भिन्न आत्मा को मानने की कल्पना और मुक्ति की कल्पना से सामाजिक मूल्यो मे वहुत बड़ा परिवर्तन आया है ।

परिवर्तन का हेतु

जहा दार्शनिक मान्यता नही होती है, वहा परिवर्तन नही होता है । राजनीति मे भी जो परिवर्तन होता है, उसके पीछे दर्शन है । मार्क्सवाद, गाधीवाद आदि दर्शन के आधार पर ही बनते है । आज भी ऐसे बहुत से राजनैतिक दल है, जिनके पीछे दर्शन नही है फलत वे चल नही पाते, विकास नही होता । सामाजिक मूल्यो मे स्वतन्त्रता का विकास मुक्ति के दर्शन से आया । मुक्ति के आधार पर और भी परिवर्तन आया । व्यक्ति सामाजिक, पारिवारिक क्षेत्र मे होते हुए राजनैतिक स्तर पर आया है । निर्वाण का स्वर इतना प्रभावशाली रहा है कि उसके सामने स्वर्ग यानी बन्धन का स्वर क्षीण हो गया ।

विंटरनीत्ज़ का मत

उपनिषदो के साथ पार्श्वनाथ का युग था । कुछ लोग उपनिषदो को वैदिक धारा का साहित्य मानते है किन्तु डा० विटरनीत्ज़ ने सिद्ध किया है कि यह कोई एक धारा की सम्पत्ति नही किन्तु विभिन्न धाराओ का अनुदान है । उस समय मे श्रमणो के पचासों सम्प्रदाय थे, उनमे से छ तीर्थकरो का उल्लेख बौद्ध-साहित्य मे आता है । जैन-साहित्य में लगभग सभी सम्प्रदायो का उल्लेख प्राप्त है । निशीथ की चूर्णि में चालीस श्रमण धाराओ का उल्लेख मिलता है । महाभारत, जैनागम, त्रिपिटक, स्मृति इन सबके विचारों का ताना-बाना इतना जुड़ गया है कि उनका मूल ढूँढ निकालना कठिन है । यह मध्यकाल में हुआ । आज की तुलनात्मक पद्धति चालू रही तो बहुत निष्कर्ष सामने आएगे । हमने तो सोच लिया है कि पुराने जो कर गए, उसके बाद कुछ भी करने का नही रह गया । समुद्र को धकेलकर जमीन निकाली जा सकती है तो क्या धर्म मे चिन्तन नही किया जा सकता ?

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

विषय बहुत बड़ा है, इसके लिए पृष्ठभूमि की जरूरत थी वह मैने प्रस्तुत की है। विचारो का संक्रमण कब हुआ, कैसे हुआ आदि बातो पर चिन्तन अपेक्षित है। दर्शन का विकास कालक्रम से हुआ है, वह अनादि नही है। हजारों वर्षो मे भाषा के कई रूप-परिवर्तन हो जाते है, तब विचारों का प्रवाह एक रूप कैसे रह सकता है ? इसलिए विचारो के क्रमिक विकास का अध्ययन करना दार्शनिक अध्ययन का वैज्ञानिक दृष्टिकोण है।

जीवित धर्म : राष्ट्र धर्म

मै धर्म की उपासना करता हूं पर उसकी नही करता, जो मृत है। मै उसकी उपासना करता हूं जो जीवित है। जीवित वही है जिसका वर्तमान पर अधिकार है। अतीत असत् होता है, इसलिए कि वह अपना कार्य कर चुकता है। भावी असत् होता है कि वह कार्यक्षम नही होता। सत् वर्तमान है। उसकी उज्ज्वलता से भूत चमकता है और भावी बनता है।

तुम जीवित रहना चाहते हो तो कोरे अतीत के गीत मत गाओ। कोरी कल्पना की उड़ान मत भरो। आज क्या करना है, इसे सोचो, दो क्षण गहराई से सोचो।

तुम सहिष्णु हो, अनुशासित हो, स्थिरचेता हो, परिवर्तन की मर्यादा को जानते हो तो तुम जीवित हो, तुम्हारा धर्म जीवित है, वर्तमान पर तुम्हारा अधिकार है और तुम्हारा वर्तमान उज्ज्वल है।

अपनी भूलो को देखने, सुनने, स्वीकार करने और उनका परिमार्जन करने मे तुम क्षम हो तो तुम जीवित हो, तुम्हारा धर्म जीवित है, वर्तमान पर तुम्हारा अधिकार है और तुम्हारा वर्तमान उज्ज्वल है।

दूसरो की अच्छाइयों को देखने, सुनने, स्वीकारने और अपनाने मे तुम क्षम हो तो तुम जीवित हो, तुम्हारा धर्म जीवित है, वर्तमान पर तुम्हारा अधिकार है और तुम्हारा वर्तमान उज्ज्वल है।

धर्म इसलिए जीवित तत्त्व है कि उसमे वर्तमान उज्ज्वल होता है। वह इसीलिए शाश्वत तत्त्व है कि उसमे वर्तमान सदा उज्ज्वल होता है।

धर्म, कर्त्तव्य और नीति

धर्म व्यक्तिगत होता है। वह सामाजिक या राष्ट्रीय नही होता। जो सामाजिक या राष्ट्रीय होता है, वह धर्म का संस्थान् हो सकता है, धर्म नही। धर्म का अर्थ है, आत्मा की पवित्रता। वह वैयक्तिक ही हो सकता है।

कर्त्तव्य राष्ट्रीय हो सकता है। उसका अर्थ है नीति को क्रियान्वित करना। उसका सम्बन्ध आत्मा की पवित्रता से नही है, किन्तु दायित्व से है।

नीति भी राष्ट्रीय हो सकती है। वह सामाजिक जीवन जीने की पद्धति है। समूचे

समाज या राष्ट्र के लिए जनता उसे निश्चित करती है। वह व्यक्तिगत शुद्धि या रुचि के आधार पर नहीं बनती, किन्तु जनता के सामूहिक हितों के आधार पर निश्चित होती है।

कर्तव्य धर्म हो सकता है पर वह धर्म ही है, यह नही होता। नीति धर्म हो सकती है पर वह धर्म ही है, यह नहीं होता। इसका फलित अर्थ यह है कि धर्म और कर्तव्य सर्वथा एक नहीं हैं। महात्मा गाधी अहिंसा को अपना धर्म मानते थे। कांग्रेस ने उसे नीति के रूप मे स्वीकार किया था। धर्म आत्मा से अभिन्न होता है, उसे छोड़ा नही जा सकता। नीति समय-समय पर बदलती रहती है।

प्रश्न है सदाचार का

आज हिन्दुस्तान के सामने धर्म, कर्तव्य और नीति—ये तीनों प्रश्नचिह्न बने हुए है। सदाचार को अपना धर्म मानकर चलने वाले लोग बहुत कम है। वह राष्ट्रीय कर्तव्य के रूप में भी नहीं अपनाया गया है। राष्ट्रीय नीति के रूप मे भी उसे बहुत बल नहीं मिल रहा है। इसीलिए असदाचार सदाचार पर हावी हो रहा है। इस स्थिति को बदलने के लिए धार्मिक पवित्रता का वातावरण बनाना, कर्तव्यबुद्धि को जगाना और नीति का दृढ़ता के साथ निर्धारण करना—ये तीनो अपेक्षित माने जाते रहे है। इस सचाई को हम अस्वीकार नही करते कि धार्मिक-बुद्धि भी नीति जितनी व्यापक नही हो सकती। नीति के साथ कानून की शक्ति है, इसलिए वह अनिवार्यता है। कर्तव्य के साथ दण्ड-शक्ति नहीं है। वह बौद्धिक-शक्ति का विकास है। धर्म आत्मा का आन्तरिक प्रकाश है।

दायित्व किसका

नीति स्थूल है, कर्तव्य सूक्ष्म है और धर्म सूक्ष्मतम। धर्म की मान्यता है—तुम अच्छाई से भिन्न कुछ हो ही नही। कर्तव्य कहता है—तुम्हे अच्छाई का पालन करना चाहिए। नीति कहती है—तुम्हे अच्छाई का पालन करना होगा। ये तीनो रेखाए अपने-अपने क्षेत्र में विकसित होती है, तब असदाचार सदाचार पर हावी नही हो सकता। नीति-निर्धारण का दायित्व सरकार पर है। कर्तव्यबुद्धि जगाने का दायित्व सामाजिक कार्यकर्ताओं पर है। धार्मिक पवित्रता को विकसित करने का दायित्व धार्मिक गुरुओ पर है।

वर्तमान स्थिति को बदलने के लिए यह अपेक्षित है कि कोई आदमी—

रिश्वत न ले और न दे।

मिलावट न करे।

व्यक्तिगत संग्रह को प्रोत्साहन न दे।

दायित्व को लेकर जनता के प्रति अन्याय न करे।

सामाजिक कुरीतियो का बहिष्कार करे।

इन्हे राष्ट्रीय नीति, राष्ट्रीय कर्तव्य और राष्ट्रीय धर्म के रूप मे मान्यता मिलने पर वह सहज ही हो जाएगा, जो सब लोग करना चाहते है।

हिन्दू राष्ट्रीयता का प्रतिनिधि है, जाति और धर्म नहीं

कुछ वर्ष पूर्व आचार्यश्री तुलसी ने कहा था—'वे हिन्दू हैं, जो हिन्दुस्तान के नागरिक हैं।' हिन्दू शब्द का अर्थ राष्ट्रीयता के संदर्भ में किया गया है। कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ जाति और धर्म के संदर्भ मे किया है। राष्ट्रीयता के संदर्भ में किया जानेवाला अर्थ मूल भावना का स्पर्श करता है और प्राचीन है। जाति और धर्म के संदर्भ में किया जानेवाला अर्थ पल्लवग्राही है और अर्वाचीन है।

इन दोनो की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना आवश्यक है। पहले हम दूसरे अर्थ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विचार करे। हिन्दुस्तान में हजारों वर्षो से चार वर्ण और अनेक जातियां रही है। 'मनुष्य जाति एक है'—इस अभेदात्मक सत्ता के उपरान्त भी उसकी भेदात्मक सत्ता जीवित रही है, फलतः मनुष्य अनेक जातियो मे विभक्त रहे है। सारी जातियो का समाहार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णो में होता था। उनका विस्तार हजारो-हजारों जातियों मे हुआ। उनमे हिन्दू नाम की कोई जाति नहीं थी। जाति के साथ हिन्दू शब्द का योग विदेशी आक्रमण की मध्यावधि मे हुआ है।

हिन्दुस्तानी धर्मो का समाहार वैदिक, जैन और बौद्ध—इन तीन धाराओं में होता था। उनका विस्तार सैकड़ो शाखाओं-प्रशाखाओ मे हुआ। उनमे हिन्दू नाम का कोई धर्म नही है। धर्म के साथ हिन्दू शब्द का योग बहुत अर्वाचीन है।

भरत के नाम पर

अब हम हिन्दू शब्द के प्रथम अर्थ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विचार करे। हिन्दुस्तान का प्राचीन नाम भारतवर्ष था। भगवान् ऋषभ के पुत्र भरत के नाम से इस भूखड का नाम भारतवर्ष पड़ा था। इसके साक्ष्य मे श्रीमद्भागवत, अन्य अनेक पुराण तथा जैन साहित्य का उल्लेख किया जा सकता है। भारतवर्ष के निवासी लोगो का व्यापारिक, राजनयिक, सांस्कृतिक व धार्मिक सम्बन्ध विदेशों के साथ बहुत प्राचीनकाल से था। भारतवर्ष की सीमा पश्चिम मे सिन्धु नदी, पूर्व मे ब्रह्मपुत्र नदी, उत्त. मे हिमालय की दक्षिण श्रेणी और दक्षिण मे समुद्र कर रहा था। सिन्धुनद से परवर्ती पार [illegible] यवन

आदि देशों मे रहनेवाले लोग सिन्धुनद से उपलक्षित इस भूखण्ड (भारतवर्ष) को हिन्दू कहते थे। 'हिन्दू' सिन्धु का रूपान्तर है, जो उनकी स्वदेशोच्चारण शैली में हुआ है।

हिन्दु : सिन्धु

कालकाचार्य जब पारसीक देश में गए थे, तब उन्होने शाही लोगों से यही कहा—'चलो, हम हिंदुग देश मे चले'—'एहि हिन्दुगदेस वच्चामो।' इस घटना का उल्लेख जिनदास महत्तर ने 'निशीथ चूर्णि' मे किया है। वह विक्रम की सातवी शताब्दी की रचना है। इससे स्पष्ट है कि उस समय तक 'हिन्दुग' का प्रयोग देश के लिए होता था। अभिधान राजेन्द्र (७/१२२८) मे हिन्दु शब्द के अर्थ-परिवर्तन का क्रम बतलाया गया है। उसके अनुसार पहले 'हिन्दु' शब्द देशवाची था। पिर आधार-आधेय के सम्बन्धोपचार से वह 'हिन्दु' देशवासी आर्य लोगो का वाचक हुआ और तीसरी अवस्था मे वह वैदिक धर्म के अनुयायियो का वाचक हो गया—'हिन्दुरितिव्यवहारतो जनपदपरोपि तात्स्त्यात् आर्यमनुष्यपरोऽजायत । क्रमादेतद्देशप्रसिद्ध-वेदमूलकलोकागमानुसारिष्यपि बोधको जात. ।''

वैदिक काल मे सिन्धु और पजाब को सप्तसिन्धु कहा जाता था। ऋग्वेद (२।३२।१२, २।१२।१२ आदि) मे 'सप्तसिन्धु' का प्रयोग मिलता है। पारसियों के धार्मिक ग्रन्थ अवेस्ता मे 'सप्तसिन्धु' के लिए 'हप्तहिन्धु' का प्रयोग मिलता है। ऋग्वेद (४।२७।१) में केवल सिन्धु का प्रयोग मिलता है। हिन्दु उसी सिन्धु का पर्शियन रूपान्तर है।

राष्ट्र और राष्ट्र के नागरिको मे अभेदात्मक सत्ता होती है। जापान की प्रजा जापानी, जर्मन की प्रजा जर्मनी—ये प्रयोग जैसे राष्ट्र और राष्ट्रीय प्रजा के अभेदात्मक स्वरूप के सूचक है वैसे ही हिन्दुग (हिन्दुस्तान) और हिन्दु भी क्षेत्रीय सम्बन्ध के सूचक है। हिन्दू का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ मे था। बाहरी आक्रमणो से हिन्दुस्तान की सत्ता छिन्न-भिन्न हुई और उसकी प्रभुसत्ता आगन्तुक जातियो के हाथ मे चली गई। तव हिन्दु शव्द का अर्थबोध सकुचित हो गया। मुसलमान और हिन्दु—ये दोनो शब्द एक-दूसरे के प्रतिपक्षी दन गए। सस्कृत व्याकरण मे श्रमण और व्राह्मण को नित्य प्रतिण्क्षी के रूप मे प्रस्तुत किया गया था, जैसे— अहिनकुलम्, अश्वमहिष्म्, श्रमणव्राह्मणम्। यह नित्य-वैर क्षीण हो गया। मध्ययुग का व्याकरणकार 'श्रमणव्राह्मण' के स्थान पर 'हिन्दु-मुसलमान' लिखता।

बाहरी जातियो के आक्रमण-काल मे हिन्दुस्तान की प्रभु-सत्ता वैदिक धर्मावलम्बियो के हाथ मे थी। इसलिए 'हिन्दु' शव्द इन्ही के अर्थ मे रूढ़ हो गया। यह 'हिन्दु' शब्द के अर्थ का इतिहास है।

नए परिप्रेक्ष्य मे देखे

है । आज का हिन्दुस्तान राजतन्त्र द्वारा शासित नही है । यहाँ न हिन्दुओ का राज्य है, न मुसलमानों का और न किसी अन्य जाति या सम्प्रदाय का । यह जाति-निरपेक्ष और सम्प्रदाय-निरपेक्ष राज्य है । इसमे सब जातियों और सब सम्प्रदायों को अपने विकास का समान अवसर और समान अधिकार है ।

वर्तमान संदर्भ

वर्तमान मे धर्म-सम्प्रदायो की सत्ता प्राचीन युग जैसी प्रभावी नही है । जातीय बन्धन भी शिथिल हो चुके है । आज शक्ति राजनीति में केन्द्रित है । फलत राजनीतिक दल सर्वाधिक शक्तिशाली हैं । काग्रेस, समाजवादी दल, साम्यवादी दल—ये आरम्भ से ही सर्वसमाहर्ता थे । इनमें सभी सम्प्रदायो और जातियो के लोग सम्मिलित थे । कुछेक दलो को साम्प्रदायिक दल कहा जाता था । वर्तमान चुनाव ने इसे असत्य प्रमाणित कर दिया । दिल्ली तथा अन्य क्षेत्रो में मुसलमानो का आशातीत समर्थन प्राप्त हुआ ।

सम्प्रति जो राजनीतिक दल हिन्दुस्तान के शासन-सूत्र का सचालन कर रहे है, वे अब साम्प्रदायिक और जातीय-बन्धन से मुक्त है । इसी स्थिति के संदर्भ में 'हिन्दु' शब्द को सकीर्ण सीमा से निकालकर व्यापक भूमिका में प्रतिष्ठित कर देना चाहिए ।

हिन्दु शब्द के प्रति एक दूसरे दृष्टिकोण से भी विचार किया जा सकता है । जिस निमित्त ने इस राष्ट्र को 'हिन्दु' शब्द की संज्ञा दी थी, वह निमित्त ही अब नि शेष हो चुका है । सस्कृत व्याकरण के अनुसार निमित्त के अभाव मे नैमित्तिक का अभाव हो जाता है । हिन्दुस्तान का विभाजन हो जाने के पश्चात् सही अर्थ मे 'हिन्दु' देश कहलाने का अधिकारी पाकिस्तान है । सिन्धु नदी उसी के भू-भाग को अभिसिंचित कर रही है । किन्तु इस स्थित्यन्तर के बाद भी वर्तमान हिन्दुस्तान ने अपना अधिकार या निमित्त खोया नही है । सिन्धुनद उसी के अधिकार-क्षेत्र में है । अतः उद्गम की दृष्टि से 'हिन्दु' कहलाने का उसका अधिकार पूर्णरूपेण सुरक्षित है ।

ज्वलंत प्रश्न

इस राष्ट्र को अभिधा देने वाले दो शब्द है—भारत और हिन्दुस्तान । जिन शब्दो में हिन्दुस्तान के समस्त नागरिको के समाहार की क्षमता हो, वैसे शब्द दो ही हो सकते है—भारतीय और हिन्दु । भारतीय शब्द का प्रयोग प्रचलित है । इस एक शब्द से काम भी चल सकता है । किन्तु हमारे सामने काम चलाने का प्रश्न नही है । प्रश्न है—'हिन्दु' शब्द से लिपटे हुए विष के प्रक्षालन का । प्रश्न है—उससे सम्पृक्त संकीर्ण जातीय आस्था को तोड़ने का । प्रश्न है—उसमे आरोपित घृणा के उन्मूलन का । प्रश्न है—हिन्दु और मुसलमान इस शब्द-सश्लेष के विश्लेषण का । ये सारे प्रश्न हिन्दु शब्द को नया अर्थ देने पर ही समाहित हो सकते है ।

एकता की समस्या

हमारे जीवन में एकता और अनेकता का ऐसा विचित्र योग है कि हम एक होकर भी अनेक है और अनेक होकर भी एक हैं। हमारी एकता का अर्थ है, समानता की अनुभूति और अनेकता का अर्थ है आवश्यकताओ का विभाजन।

एक भी, अनेक भी

हम सब मनुष्य है। मनुष्य-मनुष्य समान है, इसलिए सब एक है। किन्तु हमारी आवश्यकता-पूर्ति के स्रोत विभिन्न है। उनसे हम विभक्त हैं, इसलिए अनेक भी है। जिससे हमारी अपेक्षा पूरी होती है, उससे हमारा मोह हो, यह स्वाभाविक है। जिनसे मोह होता है, उन्हे महत्त्व देने की भावना भी अस्वाभाविक नही है। हम सबसे अधिक महत्त्व अपने शरीर को देते है। फिर अपने रंग-रूप, भाषा, जाति, गांव, जिला, प्रात और राष्ट्र को देते है। उन्हे महत्त्व देना कोई अपराध भी नहीं है, यदि हम दूसरों को हीन माने बिना, बाधा पहुचाए बिना उन्हें महत्त्व दे। किन्तु हमारे मे अपने भौतिक साधनो को सीमा से अधिक महत्त्व देने की प्रवृत्ति होती है। इसीलिए हम दूसरो के साधनो से अपने साधनो की योग्यता प्रमाणित करना चाहते है। इस प्रक्रिया में हमारा मन घृणा, गर्व आदि अनेकता के बीजों की बुआई करता है। हम नही चाहते कि साधनों की अनेकता के आधार पर मानवीय एकता खण्डित हो, पर साधनों को असीम महत्त्व देते हुए हम यह कैसे कह सकते है? भौतिक साधनों के प्रति हमारा आकर्षण जितना अधिक होगा, उतनी ही अधिक मानवीय एकता खण्डित होगी। हम मानवीय एकता को बनाए रखना चाहते है और भौतिकता के आकर्षण को कम करना नही चाहते, फिर वह कैसे संभव होगी?

एकता को खंडित करने वाले तत्त्व

मानवीय एकता को खण्डित करने वाले प्रमुखत. तीन श्रेणी के लोग होते है। एक वे, जो शक्तिशाली होते है। दूसरे वे, जिनका बुद्धि-बल प्रखर होता है। तीसरे वे, जो प्रकृति के दुष्ट होते है। शक्तिशाली और बुद्धि-सम्पन्न लोग जब अधिकार-लोलुप हो जाते है, प्रत्यक्ष या परोक्ष साम्राज्य जब प्रिय हो जाता है, तब मानवीय एकता का भंग होता है। दुष्ट-प्रकृति के लोग अपने पर सतुलन न रखने के कारण भेद का वातावरण

उत्पन्न कर डालते है। इतिहास स्वयं साक्ष्य है कि जव-जव मानवीय एकता का भंग हुआ है, तब-तब ऐसे ही लोगो के द्वारा हुआ है।

तात्कालिक और स्थायी समाधान

यदि हम चाहते है कि मानवीय एकता पुन. स्थापित हो, भौतिक उपकरण को लेकर मनुष्य मनुष्य का शत्रु न बने तो हमे मानव-निर्माण के प्रति विशेष ध्यान देना होगा। तात्कालिक उपचार यह हो सकता है कि एकता के प्रवल आन्दोलन द्वारा मनुष्य को मानवीय एकता की अनुभूति कराई जाए किन्तु इसका स्थायी समाधान यह है कि हम अपने प्रशिक्षण-क्रम में तीन तत्त्वों को अनिवार्यता दें।

(१) शक्ति-संगोपन
(२) बुद्धि-संयम
(३) भाव-पवित्रता की शिक्षा

शक्ति-संगोपन की शिक्षा प्राप्त हो तो बहुमत अल्पमत के प्रति कभी आक्रमणकारी नही हो सकता और अल्पमत बहुमत के प्रति कभी उद्दंड नही हो सकता। शक्ति के सगोपन का उसकी उपलब्धि से अधिक महत्त्व है। बौद्धिक-संयम का अभ्यास हो तो किसी भी प्रकार का साम्राज्य स्थापित नही हो सकता और शोषण भी नही हो सकता। स्वभाव की पवित्रता प्राप्त हो जाए तो आए दिन होने वाले सघर्ष समाप्त हो जाएं।

भेद के हेतु

राष्ट्रीय एकता की बात सोची जाती है पर हमारा विश्वास है कि मानवीय एकता को आधार माने बिना राष्ट्रीय एकता स्थितिशील नही बनती। मनुष्य के मूल्यांकन का हमारा दृष्टिकोण विशुद्ध नहीं है। हम मनुष्य को मनुष्य की दृष्टि से नही जानते-पहचानते। हम उसका अकन जातीय, प्रातीय, राष्ट्रीय, भाषायी आदि माध्यमों से करते है। इसलिए वह हमसे बहुत दूर रह जाता है। उसके माध्यम हमारे माध्यमो से भिन्न होते है इसलिए भेद मिट ही नही पाता। फिर भी जो राष्ट्रीय एकता का ज्वलत प्रश्न है उस पर विचार करना चाहिए। वर्तमान मे जो भेद वाली प्रवृत्तियां बढ़ रही है, उनके प्रभावशाली हेतु है

१ प्रातीयता,
२ जातीयता,
३ भाषा,
४ राजनीतिक-दल।

आश्चर्य की बात

जातीयता किसी दिन समाप्त हो सकती है। तब सब लोग अपने आपको भारतीय मानने में गौरव अनुभव करेगे। जन्मना कोई बड़ा-छोटा, स्पृश्य-अस्पृश्य नहीं होता यानी जातिवाद समाप्त हो जाएगा। प्रांतो की व्यवस्था में भी सम्भव है परिवर्तन हो जाए। प्रातो का विभाजन प्रशासन की सुविधा का साधन रहकर अलगाव का प्रमुख हेतु बनता है तो यह स्वयं एक दिन चिन्तनीय होगा किन्तु भाषा और राजनीतिक दल एकता के स्थायी शत्रु है। भाषा या राजनीतिक दल एक ही हो, यह कल्पना कुछ जटिल है। फिर भी ये दोनो जीवन को बहुत निकटता से प्रभावित करने वाले तत्त्व है। इसलिए इनके बारे मे बहुत गहराई से सोचना चाहिए। भाषा का प्रश्न भी राजनीति से मिला नहीं है। परन्तु राजनीतिक व्यक्ति ही अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए भाषायी विवाद खड़ा करते है। जो लोग राष्ट्र-सचालन के लिए अधिक उत्तरदायी हैं, उनके द्वारा भी राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन नही मिलता है, यह सचमुच आश्चर्य की बात है।

अहिंसा की प्रतिकारात्मक शक्ति

हम जितना जीवन के बारे में जानते है, उतना मृत्यु के बारे में नही जानते। जीवन की शक्ति से हम जितने परिचित है, उतने ही मृत्यु की शक्ति से अपरिचित है। मृत्यु हमारी शत्रु नहीं किन्तु बहुत बड़ी मित्र है। हमारे मन में भय होता है तब हम उसे शत्रु मानते है। हमारा मन अभय होता है, तो वह हमारी मित्र बन जाती है। जो मृत्युंजय होता है, वह अकुतोभय होता है—उसे कहीं से भी भय नहीं होता।

शस्त्र भय का प्रतीक है

आज भारत के लिए अभय की आराधना का बहुत बड़ा प्रसंग उपस्थित है। वह सैनिक शिक्षा को अनिवार्य करके भी उतना शक्तिशाली नहीं बन सकता जितना मृत्यु को मित्र बनाकर बन सकता है। भय को भय से परास्त करने मे मनुष्य को अधिक विश्वास है। इसलिए शत्रु के प्रति शस्त्र का प्रयोग किया जाता है। शस्त्र भय का प्रतीक है। जिसका भय बहुत बड़ा होता है यानी जिसका शस्त्र बहुत शक्तिशाली होता है, वह उसे परास्त कर देता है। जिसका भय छोटा होता है यानी जिसका शस्त्र कम शक्तिशाली होता है। भय से भय या शस्त्र से शस्त्र को परास्त करने की शक्ति प्राप्त होने पर कुछ समय के लिए प्रत्येक युद्ध को टाला जा सकता है, किन्तु उसके परिणाम को नही टाला जा सकता। शस्त्र-निष्ठा के साथ जो अशान्ति, शिथिलता और आतक उपजता है, वह समूचे राष्ट्र की पवित्र चेतना को लील जाता है।

मनुष्य के मन मे भय होता है, इसलिए सहज उसमे शस्त्रनिष्ठा होती है। अवसर पाकर वह और प्रबल बन जाती है। चीन ने आक्रमण किया और भारत की शस्त्र-निष्ठा प्रबल हो गई। आज उसके सामने अहिंसा की चर्चा करना अपराध जैसा हो गया पर वह हमारे लिए बहुत ही चिन्तनीय है। हम थोड़ी-सी जटिल स्थिति आने पर इस प्रकार अहिसा को विसर्जित कर दे तो उसका दूरगामी परिणाम अच्छा नही होगा।

अहिसा का एक पक्ष

अनुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी ने सशस्त्र-प्रतिरोध को अस्वाभाविक नही कहा तो वहुत लोगों ने उसे पसंद किया। गुरुदेव ने अहिसक-प्रतिरोध का विकल्प सुझाया तो वहुत लोग उससे सहमत नही हुए। इससे भारतीय आत्मा की नाड़ी-परीक्षा हो गई। आज

भी अधिकांश भारतीय अहिसा को कायरता मान बैठे है । वे सोचते है कि पराक्रमी लोग उसे नही अपना सकते । उनका यह चिन्तन कारण-शून्य भी नही है । हमारे यहां अहिसा का जितना प्राणि-दया के रूप मे विकास हुआ है, उतना प्रतिकारात्मक शक्ति के रूप मे नही हुआ है । हम किसी को न मारें—यह अहिसा का एक पक्ष है । इस करुणात्मक पक्ष से हम दूसरों पर अपने द्वारा होने वाले अन्याय से बच सकते है किन्तु कोई दूसरा हमारे पर अन्याय करे, उससे नही बच सकते । उससे बचने का उपाय है अहिसा की प्रतिकारात्मक शक्ति का विकास । यदि यह हो तो कोई हमारे साथ अन्याय करने का दुस्साहस कर ही नही सकता ।

सफलता का प्रश्न

पूज्य गुरुदेव अहिंसक प्रतिकार की बात कहकर जनता को कायर नही बनाना चाहते किन्तु उस कायरता से उबारना चाहते है, जो शस्त्र-सज्जा होने पर भी मन के गह्वर में छिपी रहती है । गुरुदेव ने यह नही सुझाया कि आपकी निष्ठा शस्त्र-बल मे हो । मन मे भय और कायरता छिपी हो उस स्थिति में आप अहिसक-प्रतिकार करे । शस्त्र, भय और कायरता का अहिंसा से कोई मेल ही नही है । वे कहते है कि केवल भारत ही नही समूचा ससार अहिसक-प्रतिकार का मार्ग अपनाए । पर अपनाए वही और उसी स्थिति मे जब उसका पराक्रम आत्मा से प्रस्फुटित हो, मन का एक भी कोना भय से भरा न हो और शस्त्र पर से आस्था उठ गई हो । वे चाहते है कि भारत ऐसा शक्तिशली बने । मै नही कहता कि उनकी कल्पना एक ही दिन, मास या वर्ष में सफल हो जाएगी किन्तु मै मानता हू कि कोई भी कल्पना एक दिन अवश्य सफल होती है । इसलिए उसकी सफलता मे हमे कोई सदेह नही होना चाहिए ।

प्रथम बार हम उसकी सफलता की परीक्षा करने का यत्न करे किन्तु यही देखें कि वह अच्छी है या नही । मुझे लगता है कि वह कल्पना बहुत अच्छी है । युद्ध समस्या का स्थायी समाधान नही है । दास-प्रथा और राजतत्र-प्रथा के विरोध का आदिम इतिहास भी सन्देह की संकरी पगडण्डियों में से गुजरा है पर आज कोई दास नही है और राजे भी इतिहास की वस्तु बन गए है ।

अहिसा के प्रति जन-मानस मे जो सन्देह है, वह निर्हेतुक नही है । अहिसा में निष्ठा न रखने वाले ने करुणात्मक पक्ष को जिस रूप में प्रस्तुत किया, उस रूप में प्रतिकारात्मक पक्ष को नही । इसीलिए अहिसक भी बहुत बार भीरुवत् व्यवहार करते दिखाई देते हैं । सही अर्थ मे वे अहिंसक है भी कहां ?

स्वतत्र कर्म शक्ति

प्रतिकारात्मक शक्ति का विकास स्थिति के अस्वीकार पर निर्भर है । हिंसा का अर्थ है स्थिति का स्वीकार और अहिसा का अर्थ है स्थिति का अस्वीकार । यह नर्म है

सकता है जब हमारी निष्ठा अध्यात्म में हो यानी आत्मा की स्वतत्र सत्ता को हम स्वीकार करे। जो स्थिति को स्वीकार करता है, वह आत्मा की स्वतंत्र सत्ता को अस्वीकार करता है और जो आत्मा की स्वतत्र सत्ता को स्वीकार करता है, वह स्थिति को अस्वीकार करता है। वह कैसा अहिसक और कैसा अध्यात्मवादी जो स्थिति को मान्यता दे, यह समझ मे आने वाली बात है, पर आत्मा की स्वतंत्र सत्ता मे निष्ठा रखने वाला उसे मान्य करे, यह समझ से परे है।

प्रतिकारात्मक शक्ति का अर्थ किसी की सत्ता या किसी के कर्म का प्रतिरोध करना नही है। उसका अर्थ है, स्वतंत्र कर्म-शक्ति का निर्माण। परिस्थिति से प्रभावित होकर हम जितना भी कर्म करते है, वह हमारा कर्म नही, किन्तु प्रतिकर्म होता है। हमारी अधिकाश प्रवृत्तिया क्रियात्मक नही किन्तु प्रतिक्रियात्मक ही होती है। हम बाह्य परिस्थिति से अप्रभावित रहकर कर्म करने लगें तो हममे प्रतिकारात्मक शक्ति का उदय स्वय हो जाए।

प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया

अधेरे में भूत को स्वीकार करने से डर लगता है। गाली को स्वीकार करने से क्रोध उभरता है। अपनी हीनता के स्वीकार से ही दूसरे के प्रति जलन पैदा होती है। यह दोष स्थिति मे नही है, उसके स्वीकार में है। हम किसी दूसरे व्यक्ति के हस्तक्षेप को अपनी स्वतत्र सत्ता मे बाधा मानते है पर परिस्थिति के हस्तक्षेप को वैसा नही मानते। सचाई तो यह है कि वह हमारे कर्म मे जितना हस्तक्षेप करती है, उतना कोई व्यक्ति कर ही नही सकता। चीन ने भारत पर आक्रमण किया, यह स्थिति का स्वीकार है। भारत यदि अपने स्वतंत्र कर्म मे सलग्न होता, वर्तमान के प्रति नितांत जागरूक होता तो वह ऐसा कर ही नही पाता। भारत का सशस्त्र प्रत्याक्रमण भी स्थिति का स्वीकार है। यह कोई स्वतंत्र कर्म नही, केवल प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया है। हम देखते है कि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है पर वास्तव मे हमे कहना चाहिए कि प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया होती है। स्थिति से दबे हुए जगत् मे शुद्ध क्रिया होती कहा है ? मै अपनी श्लाघा सुनकर फूलता हू और अपनी निन्दा सुनकर म्लान होता हू, ये दोनो—फूलना और म्लान होना स्वतंत्र कर्म नही है, किन्तु प्रतिकर्म है। मै ऐसा करके अपनी स्वतंत्र सत्ता का अनुभव नहीं करता किन्तु परिस्थिति का खिलौना बनता हूं। इस दशा में मै अहिसक का नाम रखकर भी अहिंसक नहीं हो सकता हूं।

हम लोग स्थिति के स्वीकार की दुनिया मे खड़े होकर सशस्त्र प्रतिकार की बात सुनते है तब हमें वह असंभव लगती है। अपनी पूर्ण स्वतत्रता की आस्था के जगत् मे खड़े होकर हम देखे तो दिखेगी कि सुरक्षा वस्तु में नही, अपने मे है, शक्ति वस्तु मे नही, अपने मे है। वस्तु में हम ही अपनी शक्ति को आरोपित करते है और हम स्वय को उसके सामने शक्तिहीन अनुभव करते है।

प्रश्न है आस्था का

अहिसक प्रतिकार हमारी आस्था का प्रश्न है। हिंसा मे निष्ठा है, वे शस्त्र-बल को जगा रहे है। अहिसा-निष्ठ व्यक्ति अभय को जगाएं। वह परमाणु बम से भी अधिक शक्तिशली अस्त्र है। उसकी शक्ति की हम कोई कल्पना नहीं कर सकते। हमारे मन में भय होता है तभी हमारे पर कोई आक्रमण कर सकता है, शासन थोप सकता है और कुछ भी कर सकता है। हम अभय हो जाते है, हमें मृत्यु की असीम शक्ति प्राप्त हो जाती है, दुनिया की कोई भी शक्ति हमें आक्रान्त नही कर सकती। परशासित वही जाति होती है, जिसके पास अपना आस्था-बल नही होता।

अहिंसा की मर्यादा

शक्ति का उत्तर शक्ति, यह अहिसा की पराजय नही, किन्तु उसके प्रति उत्पन्न भ्रम का निरसन है।

अहिसा के स्वरूप और मर्यादा को नही समझने के कारण अनेक लोग अहिसा और अशक्ति या अहिसा और कायरता को पर्यायवाची मानने लगे। अहिसा को समर्थन देने वाले राष्ट्र ने शक्ति का उत्तर शक्ति से दिया तो उन लोगों का भ्रम निरस्त हो गया कि अहिसा और अशक्ति या अहिसा और कायरता पर्यायवाची नही है।

कोई भी सरकार, भले फिर वह भारत की हो या दुनिया के किसी अन्य राज्य की, अहिसा को अपनी नीति का आधार मान सकती है, किन्तु उसे नियामक तत्त्व नही मान सकती।

सिक्के के दो पहलू

अहिसा को नियामक तत्त्व मानने वाली सस्था अपरिग्रही होगी, इसलिए वह राज्य पर नियत्रण बनाए नही रख सकती।

कोई सस्था परिग्रही है और हिसा मे प्रवृत्त नही है, यह उतना ही असभव है, जितना यह है कि कोई व्यक्ति जीवनधारी है पर श्वास लेने की क्रिया से मुक्त है।

परिग्रह और हिसा एक सिक्के के दो पहलू है। राष्ट्र परिग्रह है। उसकी रक्षा अहिसा से होगी, यह भ्रम है। अहिसा से अपरिग्रह की रक्षा हो सकती है, परिग्रह की नही। इस सिद्धान्त के सन्दर्भ मे कहा जा सकता है कि शक्ति का उत्तर, शक्ति की नीति अहिसा की पराजय नही, किन्तु उसके प्रति उत्पन्न भ्रम का निरसन है।

जीवन-रक्षा परिग्रह से सम्बद्ध है। अहिंसा से उसी गुण के रक्षण की आशा की जा सकती है, जिसका सम्बन्ध परिग्रह से नही है।

शक्ति का गठबधन केवल हिसा से नही है। वह अहिसा मे भी होता है। अल्प हिसा की शक्ति बड़ी हिसा की शक्ति से परास्त होती है। इसलिए हिसा के क्षेत्र मे कहा जाता है, शक्ति का सफल प्रतिकार शक्ति ही है।

अल्प अहिसा की शक्ति बड़ी अहिसा की शक्ति से परास्त नही, इसलिए अहिसा के क्षेत्र मे नही कहा जा सकता कि शक्ति का सफल प्रतिकार शक्ति ही है। अहिसा

की शक्ति से हिसा की शक्ति परास्त नही होती, किन्तु परिवर्तित हो जाती है। अहिसा मे मारक शक्ति नही है । उससे हिंसक का हृदय प्रभावित हो सकता है, परिवर्तित हो सकता है, अहिसक बन सकता है पर उसका प्रभावित-परिवर्तित होना अनिवार्य नही है।

अहिसा की मर्यादा

अहिसा का स्वरूप है मैत्री का अनन्त प्रवाह। उसका जगत् सीमाओ या विभाजन-रेखाओ से मुक्त होता है। राष्ट्र एक भौगोलिक सीमा है। इसलिए अहिसा के सामने इस या उसकी सुरक्षा का प्रश्न ही नही होता। उसके सामने सबकी सुरक्षा का प्रश्न होता है।

अहिसा की मर्यादा है सबकी सुरक्षा— प्राणी-मात्र की सुरक्षा। एक की सुरक्षा और दूसरे की अ-सुरक्षा यह अहिसा की मर्यादा का भंग है।

अहिसा की मर्यादा है आत्मिक सुरक्षा। भौतिक सुरक्षा उससे हो सकती है— यह कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक सरल है कि उससे नही हो सकती।

शस्त्र-शक्ति से आत्मिक सुरक्षा नही हो सकती तब हम कैसे आशा करे कि अहिंसा की शक्ति से भौतिक सुरक्षा हो सकती है।

प्रश्न प्रयोग और प्रयोक्ता का

अहिसा का अस्त्र आणविक अस्त्र से भी अधिक शक्तिशाली है किन्तु उसका प्रयोग शक्तिशाली व्यक्ति ही कर सकता है। हर व्यक्ति से उसके प्रयोग की आशा करना कठिन है। शस्त्र-शक्ति का प्रयोग एक कायर आदमी के लिए संभव नही, वैसे ही अहिसा की शक्ति का प्रयोग उस शूरवीर के लिए भी सभव नही, जिसके मन मे परिग्रह और जीवन का मोह है तथा जिसका मन घृणा से भरा है।

अहिसा की शक्ति का सामान्य प्रयोग हर आदमी कर सकता है पर उसके असाधारण प्रयोग की अपेक्षा उन व्यक्तियों से ही की जा सकती है, जिनका प्रेम घृणा पर विजय पा चुका, जिनकी दृष्टि मे मनुष्य केवल मनुष्य है—जातीय, साम्प्रदायिक आदि बधनो से मुक्त।

अहिसा की शक्ति के भिन्न स्तर नही है। किन्तु उसकी प्रयोग-शक्ति के अनेक स्तर है। हर स्तर से समान आशा कैसे की जा सकती है ?

अहिसा के प्रयोग की पद्धति भी हर व्यक्ति को ज्ञात नही होती।

प्रयोग की पद्धति और क्षमता यदि प्राप्त हो तो अहिसा के सामने हिसा की शक्ति सफल नही हो सकती।

विश्व राज्य या सहअस्तित्व

यह हमारी दुनिया अनेक व्यक्तियो, जातियो, धर्मो, भाषाओ, राष्ट्रों और शासन-प्रणालियो का सगम है। मनुष्य मे अनेक प्रकार की आकाक्षाएं, संदेह, भय, परस्पर-विरोधी हित-भावनाए है। विस्तार और प्रसारवादी शक्तिया सदा सक्रिय है। संघर्ष इन परिस्थितियो का अपरिहार्य परिणाम है। सघर्ष के स्फुलिग तब तक उछलते रहेगे जब तक अनेकता, भेद या विभाजन की रेखाएं होगी।

शान्ति की डोर

इस निष्कर्ष पर पहुचने के बाद शान्ति के प्रयत्न शिथिल नही होते किन्तु अधिक उद्दीप्त होते है। शान्ति के प्रयत्न सघर्ष के स्फुलिगो को अस्तित्वहीन बनाने के लिए नही है किन्तु इसलिए है कि स्फुलिग अग्नि के रूप मे न बदल जाएं। शान्ति के प्रयत्न करते रहना मानवीय विवेक की अपरिहार्य माग है। शान्ति का भाग्य उन कुछेक लोगो की छत्रछाया मे पल रहा है, जो सत्ता पर आरूढ़ है। जनता के भाग्य मे अशान्ति का परिणाम भुगतना बचा है पर शान्ति की डोर उसके हाथ से छूट चुकी है। एकाधिकार राजनीतिक प्रभुत्व के युग मे जनता के प्रतिनिधि शान्ति की चर्चा करे, उसका क्या विशेष अर्थ है, मै नही जानता। यह बहुत स्पष्ट है कि जनता शान्ति और अशान्ति के लिए आज प्रत्यक्ष उत्तरदायी नही है। मेरी दृष्टि में आज का मुख्य प्रश्न शान्ति या तनाव कम करने का नही है। आज का मुख्य प्रश्न यह है कि शान्ति या अशान्ति के लिए जनता प्रत्यक्ष उत्तरदायी कैसे हो? यदि युद्ध और आक्रमण की लगाम जनता और सरकार दोनो के सामजस्यपूर्ण हाथो मे हो तो अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में अकल्पित परिवर्तन आ जाए।

शस्त्रीकरण और उपनिवेश का स्रोत

जन-शक्ति हमेशा मानवता का समर्थन करती है किन्तु राज-शक्ति का ध्यान हमेशा विस्तार और प्रसार की ओर केन्द्रित रहता है। उपनिवेशवाद इसी मनोवृत्ति की देन है। शस्त्रीकरण और उपनिवेश दोनो एक ही स्रोत से फूटे हुए दो प्रवाह है। आदि मे दोनो एक है, मध्य मे दोनो विभक्त हो जाते है और अन्त मे दोनो फिर मिल जाते है। राज-शक्ति का अपना महत्त्व है पर उसे जितना असीम महत्त्व दिया जा रहा है उतना ही दिया जाता रहा तो नि:शस्त्रीकरण की समस्या कभी नही सुलझेगी। विश्व-राज्य या

अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की स्थापना उपनिवेश और शस्त्रीकरण की बढ़ती हुई होड़ के अत का एक महत्त्वपूर्ण कदम हो सकता है ।

कम हों विभाजक रेखाएं

विभाजन उपयोगिता के लिए होता है पर उसकी जितनी रेखाएं खींची जाती है, उतनी ही दूरी बढ़ जाती है। विश्व-शान्ति के लिए यह बहुत अपेक्षित है कि इन विभाजन-रेखाओ को जितना संभव हो सके, उतना कम करने का प्रयत्न किया जाए ।

यातायात के साधनो की अविकसित दशा में अनेक राष्ट्र, अनेक जातियां और शासन-प्रणालिया अपनी-अपनी परिधि मे चलती थी। आज के यातायात के विकसित साधनो ने दुनिया को बहुत छोटा बना दिया है। उसकी दूरी सिमट गयी है। परिधिया समाप्त हो गई है। इस नई स्थिति मे एक राष्ट्र, एक जाति और एक शासन-प्रणाली के सिद्धान्त का बहुत महत्त्व बढ गया है। इसका भविष्य बहुत उज्ज्वल दिखाई दे रहा है। इस कल्पना को मूर्त रूप देने मे कम उलझनें नहीं है, किन्तु विभाजन की रेखाओ को मिटाए बिना उलझनों का अंत ही नही आ सकता तब उन-उन उलझनो को सुलझाने के सिवा शान्ति के पक्ष में और चारा ही क्या है ?

शान्ति का आध्यात्मिक सिद्धान्त

विश्व-राज्य का सिद्धान्त भी मेरी दृष्टि मे राजनीतिक सिद्धान्त है। शान्ति का आध्यात्मिक सिद्धान्त सह-अस्तित्व का विचार है। अनेक धाराए भी सह-अस्तित्व का विकास होने पर एक धारा की भॉति व्यवहार कर सकती है। यह चार आना राजनैतिक पक्ष है और बारह आना आध्यात्मिक पक्ष है। और गहराई मे उतरें तो अनुभव होगा कि यह सोलह आना आध्यात्मिक पक्ष है। इस पक्ष की पुष्टि के लिए आध्यात्मिक सिद्धातो को विकसित और पुष्ट करना आवश्यक है ।

सह-अस्तित्व की सिद्धान्त-श्रृखला इस प्रकार होगी .

शान्ति का आधार	:	व्यवस्था
व्यवस्था का आधार	.	सह-अस्तित्व
सह-अस्तित्व का आधार		समन्वय
समन्वय का आधार	·	सत्य
सत्य का आधार	:	अभय
अभय का आधार		अहिसा
अहिसा का आधार	.	अपरिग्रह
अपरिग्रह का आधार		संयम

शान्ति के सूत्र

जनता जो कुछ कर सकती है, वह यही कि विश्वभर के शान्तिवादी संगठनो का एकीकरण हो । वे एक भावना से विश्व-मानस को इन सिद्धान्तो से प्रभावित करे

१. निरपेक्ष या आग्रहपूर्ण नीति का परित्याग ।
२ सापेक्ष या तटस्थ नीति या स्वीकरण ।
३. स्थिति का स्थायित्व की दृष्टि से मूल्यांकन ।
४ स्थिति का परिवर्तन की दृष्टि से मूल्याकन ।
६. आत्म-विश्वास और पारस्परिक सौहार्द का विकास ।
७ मानवीय एकता की तीव्र अनुभूति ।

प्रबल है अस्तित्व का प्रश्न

यह विश्व अखण्डता से किसी भी रूप मे नही जुड़ा हुआ खण्ड और खण्ड से विहीन अखण्ड नही है । यह विश्व यदि अखण्ड ही होता, तो व्यवहार नही होता, उपयोगिता नही होती, प्रयोजन नही होता । अगर विश्व खण्डात्मक ही होता तो ऐक्य नहीं होता । अस्तित्व की दृष्टि से यह विश्व अखण्ड भी है, प्रयोजन की दृष्टि से यह विश्व खण्ड भी है ।

आज मनुष्य-जाति के सामने अस्तित्व का प्रश्न प्रबल है । उसे वह विश्व-राज्य या सह-अस्तित्व— इनमे से किसी एक सिद्धान्त के सहारे ही समाहित कर सकती है । यथार्थवादी और धार्मिक धारणा से सह-अस्तित्व का विकल्प अधिक संभव है ।

विश्व बंधुत्व के सूत्र

जिस मनीषी ने इस सत्य का अनुभव किया— 'विश्व एक है' उसने उदात्त स्वर में विश्व बधुत्व का उद्घोष किया। बधु-शब्द में सौहार्द और प्रेम की अभिव्यंजना है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का बंधु है, इस उद्घोषणा की पृष्ठभूमि मे जो सत्य है, उसको अध्यात्म की भूमि पर अभिव्यक्त करने में भारतीय मनीषा ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। भेदभाव, विरोध, शत्रुता—इनके बीज बाहरी आवरणों के स्तर पर पनपते है। मनुष्य का भीतरी अस्तित्व है आत्मा। प्रत्येक प्राणी में आत्मा है, यह व्यापक सिद्धांत है। हम मनुष्य के संदर्भ मे विचार करते समय इस सिद्धान्त को प्रस्फुटित करे कि प्रत्येक मनुष्य मे आत्मा है। हम मनुष्य की आकृति, रंग, जाति, सम्प्रदाय, प्रादेशिकता, राष्ट्रीयता, भाषा आदि को देखते समय यह न भूले कि इन सब आवरणो के पीछे छिपा हुआ एक सत्य है और वह है आत्मा। जैसी आत्मा मुझमें है वैसी ही आत्मा इस मनुष्य मे है, जिसे मै देख रहा हूँ। इस आत्मौपम्य की अवधारणा के आधार पर विश्व बंधुत्व का प्रासाद खड़ा किया गया।

कटुता के सूत्रधार

कटुता और शत्रुता की बेल बाहरी आवरणो के आधार पर बढ़ती है। रंग-भेद और जाति-भेद कटुता के सूत्रधार बने हुए है। एक श्वेत वर्ण का आदमी काले रग वाले को, अपने आपको उच्च जाति का मानने वाला आदमी हरिजन को सताने मे रस लेता है। कुए पर पानी नही भरने देता। एक श्वेत रंग का आदमी काले रग वाले को अपने पास नही बैठने देता। यह द्वेष आवरण मे उलझी हुई चेतना का परिणाम है, इसीलिए अध्यात्म के क्षेत्र से बार-बार घोषणा की गई— देहाध्यास अथवा देहासक्ति को छोड़ो। जातिवाद तात्विक नही है। संप्रदायवाद कल्याणकारी नही है। धर्म और सप्रदाय एक नही है। इन सिद्धान्तो ने मानवीय कटुता को धोने का बहुत प्रयत्न किया फिर भी सत्ता, धन के अहकार से उन्मत्त बने लोगो ने इस ओर ध्यान नही दिया, इसीलिए विश्व-बधुत्व जैसा महान् सिद्धान्त दृढ़मूल नही बन सका। समय-समय पर एक विश्व-सरकार, एक विश्व-धर्म जैसे स्वर गूंजते रहे, पर प्रादेशिकता और राष्ट्रीयता की मूर्च्छा ने उन स्वरों को सुना-अनसुना कर दिया, फलत. सभी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तनाव का जीवन

जी रहे है। पुलिस, सुरक्षा बल और सेना को बढ़ा रहे है, हिंसा का प्रशिक्षण दिया जा रहा है, नए-नए शस्त्र खोजे जा रहे है। विश्व को कुछ घटों मे समाप्त करने की शक्ति का संचय किया जा रहा है। आदमी गरीबी और भूख से प्रताड़ित हो रहा है। भूमि की सुरक्षा के लिए धन शस्त्र-सज्जा मे बहाया जा रहा है। इस मानवीय मूर्खता का सबसे बड़ा कारण है तनाव और उस तनाव को जन्म दिया है शत्रुता की भावना ने।

बाधा है निषेधात्मक तत्त्व

विश्व-बंधुत्व के मार्ग मे आने वाली कठिनाइयो को भी हम नजरअंदाज न करे। सबसे पहली कठिनाई है— सब मनुष्यो का मस्तिष्क समान नही होता, चिन्तन समान नही होता, भावना समान नही होती, समझ समान नही होती, इन्द्रिय-निग्रह समान नही होता, मानसिक नियंत्रण समान नही होता, विवेक समान नही होता। इस असमानता का लाभ उठाकर हिंसा, आतंक, अपराध, दूसरे के सत्व का अपहरण करने की मनोवृत्ति, आक्रमण आदि निषेधात्मक तत्व अपना पंजा फैला देते है।

क्या इन बाधाओं को चीर कर विश्व-बंधुत्व की भावना को व्यापक नहीं बनाया जा सकता ? यदि मनुष्य को तनावमुक्त, अभय, शाति और आनन्द का जीवन जीना है तो अवश्य ही इन बाधाओ को पार करने का सेतु निर्मित करना होगा और वह सेतु बनेगा मस्तिष्कीय प्रशिक्षण अथवा हृदय-परिवर्तन।

विश्व-बंधुत्व के आधार-सूत्र

भारत की मानविकी ने विश्व को व्यापक बनाने के जो सूत्र दिए है, उनका प्रशिक्षण बहुत महत्त्वपूर्ण है। कुछ सूत्रों का उल्लेख करना अप्रासगिक नही होगा। विश्व-बधुत्व के आधारभूत सूत्र है.–

१ आत्मौपम्य की भावना का विकास।
२. मनुष्य जाति की एकता मे विश्वास।
३ धर्म की मौलिक एकता मे विश्वास।
४ राष्ट्रीय अथवा विभक्त भूखण्ड के नीचे रहे हुए अखण्ड जगत् की अनुभूति।
५. मैत्री और करुणा का विकास।
६. व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा।
७. शस्त्र के प्रयोग की सीमा।
८. अनावश्यक हिसा की वर्जना।
९. संयम का विकास।

मानवीय संबंध सुधरे

इन सूत्रो का प्रचार-प्रसार हो, ये जन जन तक पहुंचे, इतना ही पर्याप्त नहीं है।

अपेक्षा है, इन मानविकी सिद्धांतों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए। मस्तिष्कीय परिवर्तन प्रशिक्षण से सम्भव है। इसकी पुष्टि विज्ञान के द्वारा हो रही है। अनेक वैज्ञानिक पशुओ को प्रभावित कर उनका मस्तिष्कीय परिवर्तन कर रहे है। क्या मनुष्य के मस्तिष्क को प्रशिक्षित नही किया जा सकता ? निश्चित ही किया जा सकता है, पर इस ओर अभी ध्यान कम दिया जा रहा है।

विश्व-बंधुत्व के सिद्धान्त को व्यापक बनाने का पहला प्रयोग होना चाहिए मानवीय सबंधों मे सुधार। इस शिक्षाप्रधान वैज्ञानिक और लोकतंत्रीय प्रणाली के युग में प्रत्येक मनुष्य ने अपने अस्तित्व को समझा है और हीन भावना से ऊपर उठकर समानता का शखनाद किया है। इस स्थिति में बहुत आवश्यक है मानवीय संबंधों में परिवर्तन, समानता पूर्ण और मृदु व्यवहार का विकास। मानवीय सबधों का परिवर्तन ही विश्व-बंधुत्व की आधारभूमि बन सकेगा।

एशिया में जनतंत्र का भविष्य

मनुष्य में वृत्तियों के दो वर्ग होते है । पहले वर्ग मे तीन एषणाएं आती है और दूसरे वर्ग मे तीन आकांक्षाए । तीन एषणाए है—

१ कामैषणा काम-वृत्ति
२ वित्तैषणा अर्थार्जन की वृत्ति
३. सुतैषणा : विस्तार की इच्छा

कामैषणा मनुष्य की मूल-वृत्ति है । वित्तैषणा उसकी पूरक है । सुतैषणा अपने को अमर रखने की मनोवृत्ति है ।

तीन आकाक्षाए है—

१ जिजीविषा जीने की इच्छा
२ मुमुक्षा · स्वतत्र रहने की इच्छा
३ वीप्सा . विस्तार की इच्छा

मनुष्य की ये एषणाए और आकाक्षाए क्रियान्वित होती है । इनका क्रियान्वयन ही सामाजिक जीवन है । जहा सामाजिक जीवन है, वहा शासन है ।

जनतंत्र . अहिसा का राजनीतिक स्वरूप

विश्व के अचल मे अनेक शासन-पद्धतिया थी और है । जो वर्तमान मे है, उनमे जनतत्र अधिक स्वस्थ प्रतीत होता है । इसमे व्यक्ति को आर्थिक, सामाजिक, वैचारिक और राजनीतिक सभी प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है । मेरी दृष्टि मे जनतत्र अहिसा का राजनीतिक स्वरूप है ।

अहिसा के तीन आधार है

१ अपरिग्रह,
२ समानता,
३ स्वतन्त्रता ।

जनतत्र भी तीन प्रकार के है

१ व्यक्तिगत परिग्रह का नियमन
२ समानता
३ स्वतन्त्रता

सर्वोत्तम निधि

जिस व्यक्ति के मन में विषमता होती है, उसमें अहिंसा पनप नहीं सकती। जिस राष्ट्र मे आर्थिक, जातीय और साम्प्रदायिक विषमता होती है, वहां जनतन्त्र नहीं पनप सकता।

एशियाई राष्ट्र अभी जनतंत्र के प्रभात की स्थिति में है। अभी उनमें विषमता के तीनो प्रकार प्राप्त हैं। एशियाई राजनयिकों ने जनतन्त्र का मार्ग पूर्व-मान्यता के रूप में चुना है। उसे वरदान के रूप में प्रमाणित करना अभी शेष है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि जनतंत्र का विकल्प शासन-प्रणाली के इतिहास में सर्वाधिक सफल है। स्वतन्त्रता व्यक्ति की सर्वोत्तम निधि है। वह उसकी सुरक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति देने को भी तत्पर रहता है। शासन-क्षेत्र मे स्वतन्त्रता अपहृत होगी किन्तु जनतन्त्र की प्रणाली स्वतन्त्रता-अपहरण के दोष से अपने को अधिक मुक्त रख सकी है।

शासन की अधीनता के हेतु

व्यक्ति शासन के अधीन होता है, उसके दो हेतु हैं :

१. सुरक्षा का आश्वासन

२. सहयोग का आश्वासन

व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता देता है और उसके बदले में सुरक्षा एवं सहयोग प्राप्त करता है, किन्तु कोई भी व्यक्ति सुरक्षा और सहयोग की उपलब्धि के लिए अपनी स्वतन्त्रता से हाथ धोना नही चाहता।

अधिनायिकतावादी शासन-प्रणाली में तंत्र की सुव्यवस्था और सुस्थिरता होती है, फिर भी उसमे व्यक्ति को वह मूल्य प्राप्त नही होता, जो उसे चेतनावान होने के नाते प्राप्त है।

लोकतन्त्रीय प्रणाली में व्यवस्था और स्थिरता का पक्ष कभी-कभी दुर्बल भी रहता है पर उसमें हर व्यक्ति को विकास का समान अवसर प्राप्त होता है।

व्यक्ति समाज में विलीन होकर भी जहा अपनी वैयक्तिकता को सुरक्षित पाता है, वहां वह अधिक संतोष का अनुभव करता है। इस तोष की अनुभूति ने ही जनतन्त्र को विकासशील बनाया है।

एशिया अभी तक वर्तमान युग की गति के साथ नही है। आर्थिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक उपलब्धियो में अभी वह पश्चिमी राष्ट्रों से पीछे है किन्तु जनतत्र के लिए जिस मानवीय चेतना का विकास अपेक्षित है, वह एशिया मे कम नही है। मानवीय स्वतन्त्रता और समानता के संस्कार यहां चिर अतीत से पल्लवित होते रहे है। एशिया की आध्यात्मिक चेतना के साथ यदि किसी शासन-प्रणाली का समुचित योग हो सकता है तो वह लोकतंत्र

ही है।

ज नतंत्र के विकास के लिए एशिया अत्यन्त उर्वर है। फिर भी सामयिक स्थितियो का विश्लेषण करते समय उसमे जनतंत्र के पल्लवन की भविष्यवाणी नही की जा सकती। इस संदेह की पृष्ठभूमि में तीन तत्त्व छिपे हैं .

१. प्रभुत्व-विस्तार की भावना

२. गुटबन्दी

३. साम्प्रदायिक पक्षपात

जो बड़े राष्ट्र है, आर्थिक राजनीतिक और वैज्ञानिक उपलब्धियो से सम्पन्न है, वे अपने प्रभुत्त्व का विस्तार चाहते है। इस आकांक्षा के आधार पर दो गुट बन गए है

१. साम्यवादी

२. असाम्यवादी

एशिया में दोनों प्रकार के राष्ट्र है और तीसरे प्रकार के भी है जो किसी गुट में नही है, तटस्थ है। हिन्दुस्तान दुनिया का सबसे बड़ा जनतंत्र होने के साथ-साथ दुनिया का सबसे बड़ा तटस्थ राष्ट्र है।

दो गुटों के बीच में शक्तिशाली तटस्थ राष्ट्रों का अस्तित्व सेतु का काम करता है किन्तु राजनीति में सेतु की अपेक्षा अपने स्वार्थो की पूर्ति का महत्त्व कही अधिक है।

राजनीति की आत्मा

अमरीका जनतंत्र की सुरक्षा या साम्यवाद के विस्तार को रोकने के लिए हर संभव प्रयत्न कर रहा है। क्या इस तथाकथित प्रचार में सचाई है ? पाकिस्तानी अमरीकी गुट में है। सही अर्थ मे वह जनतंत्री भी नही, साम्यवादी भी नही है किन्तु अधिनायकतावादी है। उसने महान् लोकतत्र को क्षत-विक्षत करने का शक्तिशाली प्रयत्न किया और उस अमरीका के शक्ति-संरक्षण में किया, जो जनतंत्र के विस्तार में सबसे अगुआ है।

यह विरोधाभास कितना आश्चर्यकारी है कि एक ओर जनतंत्र के विस्तार की अदम्य उत्कण्ठा और दूसरी ओर एक महान् जनतंत्र के विकसमान पौधे पर कुठाराघात ?

इस बिन्दु पर पहुचकर हम राजनीति की आत्मा को देख पाते है कि उसका गठबंधन सिद्धांत के साथ उतना नही होता, जितना स्वार्थ-पूर्ति के साथ होता है।

स्वार्थ और सांप्रदायिकता

कुछ राष्ट्रों का आदर्श साम्प्रदायिकता है तो कुछ राष्ट्रों का सम्प्रदाय-निरपेक्षता। एशिया मे दोनों प्रकार के राष्ट्र है। हिन्दूस्तान सम्प्रदाय निरपेक्ष राष्ट्र है। पाकिस्तान का आधार साम्प्रदायिकता है। साम्प्रदायिक राष्ट्र साम्प्रदायिकता के आधार पर दूसरे राष्ट्रो से समर्थन पाते और देते है।

स्वार्थ-पूर्ति और साम्प्रदायिकता के आधार पर किया जाने वाला पक्षपात जनतत्र

के भविष्य के लिए सबसे बड़ा खतरा है। इस खतरे के परिणाम केवल एशिया के जनतंत्र देशो को ही नहीं, सारी दुनिया के जनतंत्र देशों को भुगतने होगे।

जनतंत्र का विकास और सुरक्षा दूसरे राष्ट्रो की स्वतत्र चेतना को कुण्ठित करने केप्रयत्लो से नहीं हो सकती। वह हो सकती है उनकी स्वतंत्र चेतना के उपभोग में सहयोग देने से। यदि इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया गया तो एशिया में ही नहीं, सारी दुनिया में जनतंत्र का भविष्य उज्ज्वल नहीं है।

जनतंत्र का भविष्य

साम्प्रदायिक कट्टरता वैज्ञानिक उपलब्धियों के साथ अपने-आप मिटनेवाली है। इससे जनतंत्र को दीर्घकालीन खतरा नही है। जिससे दीर्घकालीन खतरा है, वह है प्रभुत्व-विस्तार की भावना। यह परतंत्रता का सूत्र है, जो जनतंत्र के मूल आधार— स्वतत्रता पर प्रहार करता है।

स्वतंत्रता और आर्थिक विकास की सम्भावना जनतंत्र मे किसी अन्य प्रणाली से अधिक है, यह मान्यता पुष्ट होती जा रही है। इसलिए उक्त कठिनाइयो के उपरान्त जनतत्र का भविष्य प्रकाशमय प्रतीत होती है। जिस एशिया ने इस आध्यात्मिक मंत्र को पढ़ा है— आत्मा का शासन, आत्मा के द्वारा, आत्मा के लिए— वह महामनीषी लिकन के उस वाक्य को अनादृत नही करेगा— जनता का शासन, जनता के द्वारा, जनता के लिए।

लोकतन्त्र और नागरिक अनुशासन

सारी इच्छाओं का केन्द्र मन है और मन की इच्छा का केन्द्र है स्वतन्त्रता। मन अपनी इच्छा से चलना चाहता है। वह अपने क्षेत्र में दूसरों का हस्तक्षेप नही चाहता। यह सार्वभौम स्वतन्त्रता मन का शाश्वत स्वभाव है।

व्यक्ति यदि अकेला ही होता है तो वह अपनी सार्वभौम स्वतंत्रता का उपयोग कर पाता लेकिन आज वह अकेला नहीं है। वह सामाजिक जीवन जी रहा है। इसलिए उसकी स्वतंत्रता सीमित है। चाहे-अनचाहे उसमे दूसरों का हस्तक्षेप भी होता है। इसका अर्थ यह है कि सामाजिक जीवन स्वतंत्रता और परतंत्रता का मिश्रित रूप है।

क्या वह जनतंत्र है ?

प्रजातत्र व्यक्ति को अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता देता है। किन्तु आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना क्या सामाजिक राजनैतिक स्वतन्त्रता फलित होती है ? गरीबी के कारण न जाने कितने लोग आज भी अनेक परतन्त्रताओ या विवशताओ से जकड़े हुए है। चिन्तन की स्वतन्त्रता के बिना भी ऐसा ही होता है। अशिक्षित लोग भी विवशता की पकड़ से मुक्त नहीं होते।

मैं जिस भाषा में सोचता हूं, उसमे जनतन्त्र का स्वरूप कुछ दूसरा है, वर्तमान स्वरूप से भिन्न और बहुत भिन्न। मै निर्वाचन पद्धति को देखता हूं तो लगता है यह जनतन्त्र है और जब शासन प्रणाली को देखता हूं तो लगता है कि यह कठोर राजतन्त्र है।

जिस शासन में नियन्त्रणों का अधिक भार, शासन का अधिक दबाव और कानून का अधिक विस्तार हो, क्या वह जनतन्त्र हो सकता है ?

जनतंत्र और मनुष्य का स्वभाव

सीमित नियन्त्रण, सीमित दबाव और सीमित कानून— इनका समन्वित रूप जनतन्त्र। असीम इच्छा, असीम प्रयत्न और असीम उच्छृंखलता— इनका समन्वित रूप मनुष्य का स्वभाव।

प्राकृतिक रूप में मनुष्य-स्वभाव और जनतन्त्र की पद्धति मे मेल नही है, किन्तु उनका मेल विठाया जाता है। मनुष्य कुछ स्वभाव से वदलता है और कुछ जनतन्त्र। नियन्त्रण का थोड़ा विस्तार और इच्छा का थोड़ा संकोच, दवाव का थोड़ा विस्तार और

प्रयल का थोड़ा संकोच— यह जनतन्त्र का आकार बनता है। आज का जनतन्त्र इस आकार का नहीं है, इसलिए जनता और शासन— दोनों ओर से अधिक दबाव आ रहा है।

कैसा हो विरोध का स्वरूप ?

मै नही कहता कि जनता का दबाव कम हो और सरकार का दबाव बढ़े, या सरकार का दबाव कम हो और जनता का दबाव बढ़े। ये दोनों विकल्प जनतन्त्र के लिए स्वस्थ नहीं है। उसकी स्वस्थता इसमें है कि दोनों ओर का दबाव घटे। जनतन्त्र में निरंकुश शासक और निरंकुश जनता दोनों खतरनाक होते है। इस खतरनाक स्थिति के लक्षण अनेक घटनाओं मे प्रकट हो रहे है। दुकानों की लूट, अग्निकाण्ड, शस्त्रो का प्रयोग, पथराव और गोलियो की बौछार— ये अनुशासित नागरिकों के चरणचिह्न नही है। सरकारी निर्णय के विरुद्ध वैधानिक उपाय काम मे लिए जाते है, यह अनुचित नहीं, किन्तु अराजकतापूर्ण स्थिति का निर्माण उचित भी नहीं है। इससे जनतन्त्रीय प्रणाली को आघात पहुंचता है और एकाधिनायकता को बल मिलता है। सरकारी निर्णय सभी पक्षों को प्रिय लगे, यह सम्भव नही। अप्रिय निर्णय का विरोध न हो, यह भी जनतन्त्र मे असम्भव है। सम्भव यह है कि विरोध की पद्धति वैधानिक एवं शालीन हो। जनता को अनुशासन-विहीन बनाने में शायद किसी भी दल का हित नही है। आज एक दल को जनता की उत्तेजनापूर्ण और अनुशासन-विहीन प्रवृत्तियों का सामना करना पड़ रहा है, कल किसी दूसरे-तीसरे दल को भी करना पड़ सकता है।

दायित्व किस पर

जनतन्त्र का भविष्य इस प्रश्न पर निर्भर नही है कि शासन किस दल का है ? उसका भविष्य इस प्रश्न पर सुरक्षित है कि उसकी जनता अनुशासित है और हर परिस्थिति का अनुशासित ढग से सामना कर सकती है। शासक लोग भी आग्रह से मुक्त होकर जनता की स्थिति को जानना न चाहे, वस्तुस्थिति के साथ आंख-मिचौनी करें तो निश्चित रूप से अ-लोकतन्त्रीय प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन मिलता है। यत्र-तत्र विधान-सभा की घटनाएं भी अनुशासन के प्रति अनुराग उत्पन्न करने मे सफल नही हुई है। फिर केवल जनता से अनुशासन और संयम की आशा कैसे की जाए ? सामंजस्य, समन्वय और सह अस्तित्व की बात केवल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ही अपेक्षित नहीं है। पहले उनकी अपेक्षा राष्ट्र मे है — विभिन्न राजनैतिक दलो में है। विशेषतः सार्वजनिक महत्त्व की समस्याओं के समाधान के समय है। लोकतन्त्र अ-लोकतन्त्रीय उपायों से कभी सक्षम नहीं बनता। उसे सक्षम बनाने का प्रत्यक्ष दायित्व जनता पर है, प्रत्यक्षतर विधायको पर और प्रत्यक्षतम शासको पर। दायित्व के आधार पर यह स्वत. प्राप्त होता है— जनता अनुशासित हो, विधायक अनुशासिततर और शासक अनुशासिततम।

शिक्षण की ओर ध्यान दें

भारतीय जनता का बहुत बड़ा भाग अशिक्षित है। यह कहना कठिन है कि जो अशिक्षित है, वे अनुशासित नही है और जो शिक्षित है, वे अनुशासित है। हमारे विद्यालयों मे लोकतन्त्र के शिक्षण की पर्याप्त व्यवस्था नही है, इसलिए जनता से विशिष्ट अनुशासन की आशा ही कैसे की जा सकती है ?

वर्तमान वातावरण मे जो परिणाम सामने आ रहे है, उनसे भिन्न परिणामो की आशा नही की जा सकती।

इन घटनाओं की पुनरावृत्तियों से हमे न आश्चर्यचकित होने की जरूरत है और न खिन्न होने की, किन्तु एक पाठ लेने की ज़रूरत है। वह है लोकतन्त्रीय शिक्षण की समुचित व्यवस्था। मै इसमे अधिक सफलता देखता हूं कि हमारा ध्यान वर्तमान की घटनाओ पर ही न अटके किन्तु जिन कारणो से वे घटित हो रही है, वहा तक पहुचे और उनके निवारण मे लगे।

अणु-अस्त्र और मानवीय दृष्टिकोण

आज का युग अणु-युग के नाम से प्रसिद्ध है । अणु पहले भी उतने ही थे, जितने आज है पर अणु-युग होने का श्रेय अतीत को नही मिला, वर्तमान को ही मिला है । एक युग मे आत्म-द्रष्टा महर्षियों ने अपने प्रत्यक्ष-दर्शन के बल पर अणुओ की चर्चा की थी । आज का वैज्ञानिक अपने यंत्र-बल के सहारे अणुओ की चर्चा करता है । स्थूल से सूक्ष्म और सघात से भेद अधिक शक्तिशाली होता है, यह रहस्य आज सर्वविदित हो चुका है । यह इसी सिद्धान्त की एक परिणति है ।

जब तक मनुष्य मे आत्मानुशासन था, असंग्रह था और अपने मे 'स्व' का सन्तोष मानने का मनोभाव था तब तक वह निर्भय था । इसका अर्थ है कि वह शस्त्रहीन था । भय और शस्त्र मे कार्य-कारण का सम्बन्ध है । भय होता है, शस्त्र का निर्माण होता है । भय नष्ट होता है, शस्त्र विलीन हो जाता है । आत्मानुशासन घटा, सग्रह बढ़ा, दूसरो के 'स्व' को हड़पने का मनोभाव बना तब भय बढ़ा, या उसकी सृष्टि ने शस्त्रो की परम्परा को जन्म दिया । इस परम्परा मे अणु-शस्त्र अन्तिम नही है । भविष्य के गर्भ में इससे अधिक प्रलयकारी शस्त्र भी हो सकता है पर वर्तमान मे यह सर्वाधिक प्रलयकारी है ।

खण्डित है व्यक्तित्व

सहज ही जिज्ञासा होती है कि मनुष्य निर्माण चाहता है, फिर उसने प्रलय का संग्रह क्यो किया ? इसके अनेक उत्तर हो सकते है किन्तु मेरी मान्यता मे इसका कारण मनुष्य की खण्डता है । यदि वह अखण्ड होता तो किसके प्रति आकृष्ट होता और किससे दूर होता ? किससे डरता और किसके लिए शस्त्र बनाता ? पर किया क्या जाए, यह खण्डता नैसर्गिक है । एक-एक मनुष्य शरीर, मानसिक चिन्तन, परिवार, जाति, समाज, प्रान्त और राष्ट्र आदि अनेक खण्डताओ मे खण्डित है । बाहरी और भीतरी, चारो ओर के वातावरण ने उसे व्यक्तिवादी बना रखा है । समाजवाद के दीर्घकालीन कठोर प्रयत्नो के उपरान्त भी यह खण्डता की मनोवृत्ति अभी टूट नही पायी है । यदि रूसी समाजवाद [illegible] की ओर गतिशील होता तो उसके पास अणु-अस्त्र नही होते । उसका [illegible] का विश्वास केवल अपने राष्ट्र की व्यवस्था पर है । खण्डता की मनोवृत्ति [illegible] है, जितनी अन्यत्र है । इसीलिए [illegible] है ।

अकाट्य तर्क

पहले मान्यता स्थिर होती है, फिर कार्य होता है। लोगो ने मान रखा है कि शक्ति-संतुलन ही शान्ति का सर्वोत्तम उपाय है। रूस और अमेरिका मे से कोई भी इस दौड़ में पिछड़ जाता तो युद्ध शुरू हो जाता। दोनों साथ-साथ चल रहे है, इसलए युद्ध रुका है। तर्क के प्रति कोई तर्क नहीं है, क्योंकि बहुतों ने इसे अकाट्य मान रखा है। जो अकाट्य हो उसे काटने का यत्न क्यो किया जाए ? हम तर्क से ऊपर उठकर देखते है तो लगता है कि इस दौड़ का मूल्य कल्पनाजगत् मे है। यथार्थ में वह शून्य है। यदि युद्ध छिड़ता है तो दोनो सुरक्षित नही है, दुनिया का कोई कोना सुरक्षित नही है और यदि युद्ध नही होता है तो अणु-अस्त्रो का निर्माण कोरा अपव्यय है। इसका निर्माण दोनो दृष्टियों से व्यर्थ है। पर कोई एक करता है तो दूसरा बच भी कैसे सकता है ? मानवता के प्रति सबसे बड़ा अन्याय उसने किया, जिसने अणु-अस्त्रो के निर्माण मे पहल की।

महापशु बन रहा है मनुष्य

हम वर्तमान प्रश्न पर सोचें तो क्या यह सर्वथा निश्चित है कि शक्ति-सतुलन रहने पर युद्ध नही होगा ? कभी-कभी आदमी में उन्माद भी जागता है, आवेग भी आता है। मानसिक-संतुलन खो बैठने पर क्या कोई भी आदमी आगे पीछे की सोचता है। मानवीय दुर्बलताओं से हम अपरिचित नहीं है। हम इससे भी सुपरिचित है कि कुछेक व्यक्तियो की भूल का परिणाम समूचे संसार को भोगना पड़ता है। द्वितीय महायुद्ध का परिणाम किसने नही भोगा ? अणु-युद्ध का परिणाम कितना भयंकर है, इसकी कल्पना ही थर्रा देती है। जो लोग मानवता की दृष्टि से देखते है, वे अणु-अस्त्रो के निर्माण का विरोध कर रहे है, पर वे कितने है ? बहुत थोड़े। अधिक वे है, जो मानवता के विनाश को अपने सिरहाने रखकर सोते है। अपने विनाश की तैयारी पशु भी नही करता। मनुष्य महापशु बन रहा है, जो अपने ही हाथों अपनी चिता रच रहा है। मृत्यु से घबराना नही चाहिए किन्तु ऐसा मूर्खतापूर्ण निमंत्रण भी उसे नही देना चाहिए।

आवश्यकता है तीव्र प्रयत्न की

वे थोड़े से व्यक्ति, जिनके हाथ में सत्ता है, इस प्रश्न पर मानवीय दृष्टि से नही सोच रहे हैं। वे सोच रहे है राष्ट्रीय दृष्टि से। पर राष्ट्र रहेगा कैसे जब मनुष्य ही नही होगा ? अणु-अस्त्रो से मृतप्राय मनुष्य जाति क्या राष्ट्र को समुन्नत रख सकेगी ? अणु-अस्त्रों से अभिशप्त अन्धी, बहरी भावी पीढ़ी से क्या राष्ट्र समुन्नत होगे ? सारी स्थिति बहुत स्पष्ट है, निर्विवाद है। उसे जानते हुए भी जो अनजान बन रहे है, उन्हे कैसे जगाया जाए ? आज इस दिशा में तीव्र प्रयत्न की आवश्यकता है। अभी-अभी एक अणु-अस्त्र-विरोधी सम्मेलन बुलाया था। वह भी शायद शीघ्रता मे हुआ होगा। इसीलिए वहा शान्ति के लिए अनवरत प्रयत्न करने वाले अनेक सस्थाओ के प्रतिनिधि नही थे। अध्यात्मवादी

या शान्ति की दिशा मे प्रयत्न करने वाले शायद मिलना नही जानते। वे किसी न किसी बहाने पृथक् होकर चलते है। हिसा मे अपूर्व मेल होता है। उसकी शक्ति तत्काल एकत्रित हो जाती है। हमें अहिसा की शक्ति को संचित करना है। नि शस्त्रीकरण की दिशा मे कोई राष्ट्र पहल करने को तैयार नही है। पूर्ण नि-शस्त्रीकरण सर्वथा वांछनीय होते हुए भी सम्भव है तंत्र के लिए व्यावहारिक न हो किन्तु अणु-अस्त्र जैसे मानव-जाति के प्रलयंकारी अस्त्रो के निर्माण तथा संग्रह का उत्सर्ग करना अनिवार्य है। इस दिशा में जो पहल करेगा, वह मानवता का सबसे बड़ा पुजारी होगा।

युद्ध की कल्पना करना बहुत धृष्टता की बात है। किन्तु युद्धकाल मे भी युद्धस्थली से अतिरिक्त क्षेत्र को प्रभावित करने वाले अस्त्रो के निर्माण और प्रयोग पर एक अन्तर्राष्ट्रीय नियत्रण हो और यदि वह मानवता की अखण्डता के आधार पर हो तो वह विकास का एक बहुत बड़ा चरण होगा।

युद्ध और अहिंसा

पंचशील

भारत अहिसा का मूल स्रोत है। वह उसकी प्रतिष्ठा चाहता है। भारतीय धार्मिको एव दार्शनको ने ही नहीं किन्तु वर्तमान राजनयिको ने भी अहिसा की प्रतिष्ठा का प्राणपण से प्रयत्न किया है। प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने विश्वशान्ति के लिए प्रभावपूर्ण ढग से अहिसा का अवलम्बन लिया था। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व, सहिष्णुता, अनाक्रमण, समझौता-वार्ता द्वारा विवादो का निपटारा और निःशस्त्रीकरण— राजनीति के आकाश मे एक दिन पंचशील नक्षत्र की भांति चमक उठा। लगा कि विश्वशान्ति मे उसका महत्त्वपूर्ण योग होगा। चीन और भारत जैसे दो महान देशो के प्रमुखो ने विश्व के सम्मुख उसका यह रूप प्रस्तुत किया

१ एक दूसरे की प्रादेशिक या भौगोलिक अखण्डता एवं सार्वभौमिकता का सम्मान।

२ आक्रमण न करना।

३ आर्थिक, राजनैतिक अथवा सैद्धान्तिक— किन्ही भी कारणो से एक-दूसरे के घरेलू मामलो मे हस्तक्षेप न करना।

४ समानता एवं परस्पर लाभ।

५ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

बाडुग सम्मेलन

बाडुग सम्मेलन मे पंचशील मे पाच और सिद्धान्तो का समावेश कर वह २९ राष्ट्र द्वारा स्वीकृत किया गया।

१ मूल मानव अधिकारो और संयुक्त राष्ट्र सघ के उद्देश्यो, प्रयोजनो और सिद्धान्तों के प्रति आदर।

२ सभी राष्ट्रों की प्रभुसत्ता और प्रादेशिक अखण्डता के लिए सम्मान।

३ छोटे-बड़े सभी राष्ट्र और जातियो की समानता की मान्यता।

४ अन्य देशो के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करना।

५ संयुक्त-राष्ट्र उद्देश्य-पत्र के अनुसार अकेले अथवा सामूहिक रूप से आत्मरक्षा के

प्रत्येक राष्ट्र के अधिकार के प्रति आदर ।

६ किसी भी बड़ी शक्ति के स्वार्थ की पूर्ति के लिए सामूहिक सुरक्षा के आयोजनो के उपयोग से अलग रहना, एक देश का दूसरे देश पर दबाव न डालना ।

७ ऐसे कार्यो, आक्रमण अथवा बल-प्रयोग की धमकियों से अलग रहना, जो किसी देश की प्रादेशिक अथवा राजनैतिक स्वाधीनता के विरुद्ध हो ।

८ सभी आन्तरिक झगड़ो का शान्तिपूर्ण उपायों से निपटारा करना ।

९ पारस्परिक हित एव उपयोग को प्रोत्साहन देना ।

१० न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वो के लिए सम्मान ।

स्वत्व और कूटनीति

१३ जून, १९५५ को नेहरू -बुलगानिन के सयुक्त वक्तव्य पर हस्ताक्षर होने के साथ पचशील का तीसरा सिद्धान्त और भी व्यापक रूप मे स्वीकार किया गया । तीसरे सद्धान्त का जो नया रूप बना, वह इस प्रकार था— किसी भी राजनीतिक, आर्थिक अथवा सैद्धान्तिक कारण से एक-दूसरे के मामलो में हस्तक्षेप न करना ।

भारत ने अपने शान्ति-प्रयत्न और भी तीव्र कर दिये थे । उसके शासक सभवत इस तथ्य को भुला चुके थे कि जहा भौतिकता होती है, वहां स्वत्व होता है और जहा स्वत्व होता है, वहा सुरक्षा भी आवश्यक होती है, और इस तथ्य को भी विस्मृत कर चुके थे कि कूटनीति की छाया मे पलनेवालो का अतस्तल कभी भी अपने को बाह्य जगत् मे प्रकट नही करता । भारत मे चीन का आक्रमण होने पर ही उनको इस सत्य का साक्षात् हुआ कि भारत-जैसे शान्तिप्रिय और शान्तिरत देश पर भी कोई आक्रमण कर सकता है और वह भी एक प्राचीन मित्र ।

तीन विचार श्रेणियां

वर्तमान युद्ध का अतीत यह है और वर्तमान सामने है । युद्ध का समय सबके लिए बड़ा विकट होता है । उसके समर्थन और असमर्थन का प्रश्न ज्वलन्त हो जाता है । इस समय सिद्धान्तवादी लोग लगभग तीन विचार-श्रेणियो मे बटे हुए है

१ आक्रमण मे विश्वास रखने वाले हिसावादी ।

२ प्रत्याक्रमण मे विश्वास रखने वाले मध्यममार्गी ।

३ अनाक्रमण मे विश्वास रखने वाले अहिसावादी ।

अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद मे विश्वास रखने वाले हिसावादी लोग जैसे अपने देश के प्रति कोई विशेष अनुराग नही रखते, वैसे ही प्राणी-मात्र के प्रति सद्भावना मे विश्वास रखने वाले अहिसावादी भी किसी देश विशेष के प्रति अनुराग नही रखते किन्तु दोनो एक श्रेणी के नही होते । हिसावादी के सामने शत्रु और मित्र का विभाग होता है, अहिसावादी के सामने वह विभाग नही होता । वह किसी को शत्रु नही मानता ।

आक्रमण और प्रत्याक्रमण

गुरुदेव श्री तुलसी अहिसावादी है। अहिंसा की सक्रिय आराधना में वे प्राणपण से संलग्न हैं। उनकी आत्मा युद्ध का क्या , किसी छोटे-से छोटे विग्रह का भी समर्थन नहीं कर सकती। वे आक्रमण को घोर हिसा मानते है। प्रत्याक्रमण उनकी दृष्टि मे अहिसा नहीं है, किन्तु आक्रमण और प्रत्याक्रमण भी एक कोटि की हिंसा है, यह भी उनका अभिमत नहीं है। आक्रमण घोर और अनर्थकारी हिसा है। इसलिए उसके समर्थन का प्रश्न ही नही आता। प्रत्याक्रमण भी अहिंसा नहीं है इसलिए उसका समर्थन भी एक अहिसावादी कैसे कर सकता है ? किन्तु जैसे आक्रमण का तिरस्कार या विरोध किया जा सकता है, वैस प्रत्याक्रमण का तिरस्कार या विरोध नही किया जा सकता।

चिन्तन की भ्रान्ति

कुछ अहिसावादी लोग, जिनका हिसा और अहिसा-सम्बन्धी चिन्तन बहुत स्पष्ट नही है इस पर आश्चर्यचकित है कि आचार्यश्री तुलसी ने युद्ध का विरोध नही किया। उनका मानना है कि भारत अहिसा और नि.शस्त्रीकरण की बाते और युद्ध टालने का प्रयत्न करता रहा है। आज जब उस पर संकट आया तो वह तत्काल शस्त्रीकरण करने तथा युद्ध करने मे सलग्न हो गया। जब कोई संकट न आए तब अहिसा की बात और जब सकट आए तब युद्ध, यह कैसी अहिसा ? यह तो कसौटी का समय है। इसी समय उसे अहिंसा के द्वारा हिसा को परास्त कर विश्व के सम्मुख एक उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए था। यह चिंतन अहिसावादी के लिए सर्वथा अर्थशून्य है, यह तो नही कहा जा सकता किन्तु यह भी नही कहा जा सकता है कि यह सर्वथा भ्रान्तिशून्य है और यह भ्रान्ति इसलिए उत्पन्न हुई है कि उनकी मान्यता के अनुसार अहिसा के द्वारा सब निष्पन्न हो सकता है।

मर्यादा का बोध करें

गुरुदेव श्री तुलसी अहिसा की मर्यादा और उसके निश्चित परिणाम मे विश्वास करते है। वे कहते है— मै अध्यात्म और अहिसा के प्रति पूर्ण आस्थावान् हू, फिर भी उनसे (राष्ट्र और समाज की) सारी समस्याओ का समाधान होता है— इसे मै भ्रम मानता हू। भौतिक उपकरणो पर स्वत्व का विसर्जन करें तो सारी समस्याएं अध्यात्म तथा अहिसा से सुलझ सकती है। किन्तु उन पर स्वत्व स्थापित रखना चाहे और शस्त्र-सज्जा से विमुख भी रहना चाहे तथा (जब) अहिसा से सब भौतिक उपकरणो की सुरक्षा न हो तब उसे असफल भी बताए— यह दुहरा-तिहरा भ्रम है। हमे हिसा और अहिसा की मर्यादा और उनके परिणामो को समझकर ही चलना चाहिए।

भारत एक राष्ट्र है। वह भूमि, अर्थ, पदार्थ, सत्ता और अधिकार का सगठित

सस्थान है । उसके शासक, जो अहिसा की बात करते थे, वे इस अर्थ मे करते थे और आज भी करते है कि कोई किसी पर आक्रमण न करे और आक्रमण के लिए शस्त्र-सज्जा न बढ़ाए ।

दोहरी भूल

कोई भी राष्ट्र, जो स्वतंत्र राष्ट्र के रूप मे अपना अस्तित्व बनाए रखना चाहता है, प्रत्याक्रमण की मर्यादा से अपने को मुक्त नही रख सकता । हा, प्रत्याक्रमण की मर्यादा से राष्ट्र को तब मुक्त रखा जा सकता है, जब उसका शासक-वर्ग और जनता यह मान ले कि इस राष्ट्र पर हमारा कोई स्वत्व नही है, जो चाहे वह आए और इसे अपने स्वत्व में ले, यह भावना हो तो प्रत्याक्रमण की कोई भी आवश्यकता नही रहती । भौतिक पदार्थो का स्वत्व भी रखना चाहे और उनका सरक्षण अहिसा के द्वारा करना चाहे— यह दुहरी भूल है । उनका सरक्षण स्वय हिसा है और फिर वह अहिसा का परिणाम कैसे हो सकता हे ? अहिसा के द्वारा उसी वस्तु की रक्षा हो सकती है, जिसके परिणाम-काल में भी अहिसा हो । भौतिक पदार्थ, सत्ता और अधिकार ये सब स्वय हिसा है, तब अहिसा उनका संरक्षण कर पाए, यह कैसे हो सकता है ?

पहुच का तारतम्य

उक्त विचारधारा के कुछ लोग कहते है— अहिसा अणुव्रत अहिसा का विभाजन है । अणुव्रत अनुशास्ता की दृष्टि मे अणुव्रत अहिसा की विभक्ति नही किन्तु पहुंच का तारतम्य है । कोई भी व्यक्ति एक ही डग मे चोटी तक नही पहुच सकता । वह धीमे-धीमे आगे बढ़ता है । भगवान् महावीर ने अहिसा की पहुच के कुछ स्तर निर्धारित किए थे । वे वस्तु-स्थिति पर आधारित है । उन्होने हिसा को तीन भागों मे विभक्त किया

१ संकल्पजा

२ विरोधजा

३ आरम्भजा

सकल्पजा हिसा आक्रमणात्मक हिसा है । वह सबके लिए सर्वथा परिहार्य है । विरोधजा हिसा प्रत्याक्रमण हिसा है । उसे छोड़ने मे वह असमर्थ होता है, जो भौतिक सस्थानो पर अपना अस्तित्व रखना चाहता है । आरम्भजा हिसा आजीविकात्मक हिसा है । उसे छोड़ने में वे सब असमर्थ होते है, जो भौतिक साधनो के अर्जन-सरक्षण द्वारा अपना जीवन चलाना चाहते है ।

आक्रमण की अमानवीयता का वोध जागे

आज चीन सकल्पजा हिसा या आक्रमणात्मक हिसा की स्थिति मे है और हिन्दुस्तान प्रत्याक्रमण की स्थिति मे है । इस स्थिति मे भारतीय शासक यह निर्णय केसे ले सकते

है कि वे चीनी सैनिको का सशस्त्र प्रतिरोध न करे। यदि वे ऐसा निर्णय लें तो वे शासक रह ही नही सकते। यह निर्णय तो भारत की पैतालीस करोड़ जनता ही ले सकती है कि चीनी जिस गति से आ रहे हैं, उन्हे आने दिया जाए, उनका सशस्त्र प्रतिरोध न किया जाए। यह निर्णय वह तभी ले सकती है, जब भौतिक सत्ता से अपना स्वत्व हटा ले। यदि ऐसा न चाहे, भौतिक सत्ता को बनाए रखना चाहे और उसका संरक्षण चाहे अहिसा से, यह असम्भव नही तो तभी सम्भव है जब सब लोग और सब राष्ट्र आक्रमण को अमानवीय कार्य मानने लग जाएं।

समस्याएं, सरकार, अनशन और आत्म-दाह

समस्या का अर्थ है, समाज और जीवन का योग। जहा सामाजिकता है, जीवन की सामुदायिक पद्धति है और मनुष्य प्रकृति पर निर्भर है, वहां समस्याओ का होना अनिवार्य है। मनुष्य मे ज्ञान है, स्मृति है। वह वर्तमान मे जीता है, अतीत का अनुसन्धान करता है और भविष्य की कल्पनाए करता है। इसीलिए वह वर्तमान समस्याओ का प्रतिकार करता है और सभाव्य समस्याओ के प्रतिकार की योजना बनाता है।

समस्या प्रतिकार का संयंत्र

सरकार और क्या है ? समस्याओ के प्रतिकार का सबसे बड़ा संयत्र। पौराणिक कहानी के अनुसार देवेन्द्र ने सब देवो का तिल-तिल भर रूप लेकर तिलोत्तमा का निर्माण किया और उसके द्वारा सुन्द-उपसुन्द नामक दैत्यो का अन्त किया। समाज और क्या करता है ? व्यक्ति-व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अश लेकर सरकार का निर्माण करता है और उसे समस्याओ के समाधान की शक्ति देता है। इसीलिए इस तिलोत्तमा से जनता अपेक्षा रखती है कि वह समाज की समस्याओ का समाधान करे।

मूलभूत समस्या

जैसे-जैसे काल का चक्र आगे घूमता है, वैसे-वैसे समस्याए भी अपना परिधान बदल लेती है। आज की समस्याए अतीत की समस्याओ से कुछ भिन्न है। आज मूलभूत समस्या है समाज का जागरण। खाद्य की कमी, साप्रदायिक तनाव, छात्रों का आन्दोलन, दायित्व-हीनता आदि-आदि समस्याए नही। वे तो मूल समस्या-वृक्ष के पत्र-पुष्प है। नीद मे रोग नही मिटता, किन्तु उसका कष्ट मिट जाता है। यही दशा पुराने समाज की थी। उसमे समस्याए थी पर उनका कष्ट नही था। उनके अनुभव की क्षमता नहीं थी। आज के समाज की वह क्षमता है, इसीलिए उसकी कष्टानुभूति [illegible] इस समय थोड़ा-सा रोग भी असह्य हो उठता है। बहुत बार सरकार [illegible] [illegible] बनता है कि जागृत समाज के प्रति उनका [illegible] [illegible]

समस्याओं का अस्तित्व

सरकार समस्याओं को सुलझाने के लिए है, पर वह स्वयं समस्याओ से मुक्त नही है। तर्कशास्त्र में अन्योन्याश्रय और अनवस्था, ये दो दोष माने गए है। समस्याओं के ये दो प्राण है। एक अश्वारोही से किसी पथिक ने पूछा— 'यह घोड़ा किसका है ?' उसने उत्तर दिया— 'जिसका मैं नौकर हूँ।' उसने फिर पूछा— 'तुम किसके नौकर हो ?' उसने उत्तर दिया— 'जिसका यह घोड़ा है।' दोनो उत्तरो के बाद भी निर्णय लटकता रह गया। समस्या का अस्तित्व इसी में है कि कोई निष्कर्ष न निकले। एक आदमी आठ-दस कपड़े ओढ़ता था। पूछने पर वह बताता कि पहला कपड़ा मैला न हो, इसलिए दूसरा कपड़ा ओढ़ा है। दूसरा मैला न हो, इसलिए तीसरा ओढ़ा है। लोग उसे कहते— 'ग्यारहवा फिर ओढ़ो और तब तक ओढ़ते जाओ, जब तक मैला होने की संभावना हो।' यह अनवस्था का दोष है। किन्तु समस्याओं का अस्तित्व इसी में है कि एक समस्या अनावृत होती है, उससे पहले ही दूसरी समस्या सामने प्रस्तुत हो जाती है।

समस्या के प्रति समस्या के प्रयोग

आज जनता सोचती है कि सरकार उसके लिए समस्या है और सरकार सोचती है कि जनता उसके लिए समस्या है। चिन्तन इस बिन्दु के आस-पास घूम रहा है कि जनता के लिए सरकार नहीं है और वह सरकार जनता के लिए हो भी कैसे सकती है, जो जनता की भावना का आदर न करे। इसी भावना की अनुभूति ने शायद अनशन और आत्मदाह जैसी समस्याओ की सृष्टि की है। ये अनशन और आत्मदाह समाधान नही है, किन्तु समस्या के प्रति समस्या के प्रयोग है। नई समस्या पैदा कर पहली समस्या को सुलझाने के प्रयत्न है। किन्तु चिन्तन के आकाश मे एक प्रश्न उभर रहा है, क्या वे प्रयोग समस्या को सुलझा सकेंगे ?

सम्यक् उपाय

हमारा चिन्तन केवल वर्तमान की धुरी मे अटक गया है। हम आज भविष्य की प्रलम्ब काया को ऑखो से ओझल कर सांस ले रहे है। इसे हम कैसे भुला देते है कि कोई भी सरकार स्थायी नही होती, इसलिए वह स्थायी समस्या भी नही हो सकती। किन्तु समाज मे जो परम्परा डाल दी जाती है, वह स्थायी हो जाती है और उसके दीर्घकालीन परिणाम समाज को भुगतने पड़ते है। अनशन और आत्मदाह की परम्परा कितनी भयकर हो सकती है, किसी भी समाज और सरकार के लिए, क्या उसकी हमे कल्पना नही है ? अनशन और आत्मदाह जैसे प्रयत्नो से सरकार को वाध्य करना समस्या का हल है या जनमत को जागृत करना ? यदि जनमत जागृत हुआ तो वह जन-भावना का अनादर करने वाली सरकार को तत्काल अपदस्थ कर देगा। लोकतत्र मे समस्याओ के हल का

यही एकमात्र सम्यक् उपाय है ।

आज का जागता हुआ समाज इन बाध्यताओं को अधिक समय तक सहन नही करेगा। यदि ये बाध्यताए धार्मिक मंच से आती है और साम्प्रदायिक तनावो की सपुष्टि के लिए आती है, तो वे धार्मिक मंच के भविष्य को धुंधला करने वाली प्रमाणित होगी।

अनशन

अनशन, जो कि विशुद्ध धार्मिक प्रयोग था और समाधि चाहने वाले सत अत्यन्त निर्मलभाव से उसे स्वीकार करते थे, आज राजनीतिक बाध्यता का हथियार बन गया है। उसका प्रयोग इतना सस्ता हो गया है कि उसकी शक्ति समाप्ति के तट पर है। राष्ट्रीय स्तर पर अनशन के प्रयोग पर चिन्तन और उसकी सीमाओ का निर्धारण होना चाहिए। जिस अनशन के साथ दूसरो की बाध्यता जुड़ी हुई हो, उसे धार्मिक अनशन मानने का पुष्ट आधार प्राप्त नही होता। आजकल अधिकाश अनशन राजनीतिक आधार पर हो रहे है और समस्या के लिए किये जाने वाले ये अनशन आज समाज के सामने स्वय समस्या वनकर खड़े है।

आत्मदाह

आत्मदाह तो अनशन से भी अधिक भयकर हथियार है। अनेक देशो मे आत्माहुति की करुण घटनाए घटित हुई है। आश्चर्य होता है कि इस वैज्ञानिक व बौद्धिक युग मे किस प्रकार ऐसी घटनाओ को समाज सहता है और उन्हे प्रोत्साहन देता है।

लोकतंत्र की दयनीयता

लोकतत्र की यह सबसे बड़ी दयनीयता है कि उसके पास नीति-निर्वाह का कोई ध्रुव केन्द्र नही होता। बदलती हुई सत्ता, व्यक्ति और नीति ध्रुवाश को बहुत कम बचा पाती है। जातीयता, साम्प्रदायिकता और भाषा के सम्बन्ध मे यदि कोई ध्रुवनीति होती और निर्वाचन के अवसर पर भी उसकी ध्रुवीयता का निर्वाह किया जाता तो अनशन और आत्मदाह के अवसर स्वय शक्तिहीन बन जाते।

जीवन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली

आज लोकतंत्र का बोलबाला है, इसलिए उसकी समालोचना करना अपराध हो सकता है किन्तु क्या एक अपराधी के शब्दो मे वह बल नही हो सकता, जिसमे अपने आपको निरपराध मानने वाले बहुत सारे लोग अपने छिपे अपराधो की सूचना पा सके। लोकतन्त्र जीवन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है, किन्तु सत्ता से चिपट जाने वाले लोग उसकी श्रेष्ठता को प्रमाणित नही कर सकते। आज ऐसा ही हो रहा है। लोकतन्त्र की [illegible] [illegible] अर्थ मे लोकतन्त्र की सरकार होगी जिसके विजय का आधार साम्प्रदायिक [illegible]

व अन्य गलत तत्त्वों के साथ चुनाव समझौता तथा अन्य अशुद्ध साधन नही होगा। उसकी विजय का आधार होगा, सैद्धान्तिक स्पष्टता, जन-सेवा और राष्ट्रहित का कार्यक्रम।

आज छोटी-मोटी असंख्य समस्याएं उभर रही है। उनका समाधान मुझे इस भाषा में दीखता है—जागृत समाज द्वारा जागरूक दृष्टि से सरकार का निर्माण और सरकार द्वारा जागृत समाज के प्रति जागरूकतापूर्ण व्यवहार।

अहिंसा : शक्ति-संतुलन

हिसा और अहिंसा का प्रश्न अनादिकाल से चर्चित हो रहा है। फिर भी हिसा की प्रकृति से मनुष्य मुक्त नही हुआ है। वह चलता है तो उसके सामने हिसा का प्रश्न है। खाता है तब भी वही प्रश्न है। खाए बिना और जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओ को पूरा किए बिना, प्रश्न है वह कैसे जिए? क्या अहिंसा का अर्थ जीवन का उत्सर्ग माना जाए? यदि वही माना जाए तो अहिंसा जीवित मनुष्य के लिए नहीं होगी, फिर वह स्वय जीवित कैसे होगी? जो मृत के लिए हो उसका मूल्य जीवित सृष्टि के लिए कैसे होगा?

मै कोई नई स्थापना नही कर रहा हूँ, जो यथार्थ है, उसे मात्र अनावृत कर रहा हूँ। मनुष्य प्रकृति से हिसा के लोक में जीता है। दूसरे जीवों के बलिदान पर उसका जीवन चलता है। दूसरो के तिरस्कार पर उसके सम्मान का पौधा फलता है। कुछ भी मन के प्रतिकूल होता है, वह क्रोध से भर जाता है। उसका वैभव प्रवचना और शोषण पर फलित होता है। हिसा की प्रकृति से मुक्त होकर कोई आदमी बड़ा और कोई छोटा हो सकता है। हिसा की प्रकृति से मुक्त होकर कोई आदमी समृद्ध और कोई करीद हो सकता है। हिसा की प्रकृति से मुक्त होकर कोई आदमी शोषक और कोई शोषित हो सकता है। वड़ा और छोटा, समृद्ध और गरीब, शोषक और शोषित— ये सभी वर्ग हिसा के द्वारा लोक में बनते है। फिर भी हिसा उसको भी प्रिय है, जो छोटा है, जो गरीब है और जो शोषित है। आपके मन मे इसके हेतु की जिज्ञासा होगी तो मैं यही कहूगा कि हिसा मनुष्य की प्रकृति है। अहिसा मनुष्य की प्रकृति नही है। वह सैद्धान्तिक स्वीकृति और ऊर्ध्वारोहण का प्रयत्न है। उस प्रयत्न की दिशा मे मनुष्य प्रेम से क्रोध, विनम्रता से अभिमान, ऋजुता से प्रवंचना और साम्य की अनुभूति से लोभ पर विजय प्राप्त करता है। प्रेम, विनम्रता, ऋजुता और साम्य की अनुभूति की एक शब्द में जो [illegible] है वह अहिंसा है।

अहिंसा की पकड़ इतनी स्थूल है कि कुछ जीवों को मारने या बचाने [illegible] [illegible] आदमी अपने को अहिंसक मान लेता है। वह अहिंसा की एक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] समग्रता नहीं है। अहिंसा की पूर्णता दृष्टि [illegible] [illegible]

त्याग है, विफलता नहीं

कुछ लोग कहते है अमुक आदमी ने अहिसा का मार्ग चुना इसलिए वह पिछड़ गया । हिसा करने वाला आगे बढ़ गया । उनकी दृष्टि मे आगे बढ़ने का अर्थ है वैभव पा लेना, सत्ता हथिया लेना और अकरणीय कार्य में सफल हो जाना । अहिसा के मार्ग पर चलने वाला अशुद्ध साधन का सहारा नही ले सकता, इसलिए वह येन केन प्रकारेण धनार्जन नही कर सकता, सत्ता नहीं हथिया सकता । यह अहिसा की विफलता नही किन्तु उसका त्याग है । जो हिसक कर सकता है और पा सकता है, वही अहिसक को करना और पाना चाहिए तब फिर हिसा और अहिसा के उद्देश्य, साधना और प्राप्य मे अन्तर ही क्या होगा ?

अहिंसा की अभिमुखता

हिन्दुस्तान के इतिहास मे अनेक सम्राट् ऐसे है जिन्होने जीवन के पूर्वार्ध मे साम्राज्य का विस्तार किया और उसके उत्तरार्ध मे साम्राज्य का परित्याग कर दिया । साम्राज्य का विस्तार हिसा से किया और अहिसा की भावना प्रबल हुई तब उसे छोड़ दिया । बाह्य की दृष्टि से अनुमापन करने वाला इसे अहिसा की पराजय मानेगा । इस मान्यता में अभिमुखता का ज्ञान नही है । अहिसा की अभिमुखता साम्राज्य की ओर हो नही सकती । उसकी अभिमुखता उतने स्वत्व की ओर होगी, जितना सविभाग से उसे प्राप्त है । एक आदमी साम्राज्यवादी भी हो, संग्रहपरायण भी हो और अहिसक भी हो, क्या यह सभव है ?

समस्या है निष्ठा की

बहुधा पूछा जाता है कि यदि अहिसक के हाथ मे वैभव और सत्ता नही होगी तो शक्ति-सतुलन हिंसक के हाथ मे चला जाएगा । हिसा की शक्ति हिसक के हाथ मे रहेगी ही । पर यह क्यो मान लिया जाता है कि अहिसा में शक्ति नही है, अहिसक शक्तिशून्य ही होता है । अहिसक के पास जो नैतिक शक्ति होती है वह हिसक के पास हो ही नही सकती है । प्रश्न यह नही है कि अहिसक के हाथ मे शक्ति-सतुलन नही है । प्रश्न यह है कि सही अर्थ मे अहिसा मे निष्ठा रखने वाले लोग कम है । सतही अहिसा गहराई मे रही हुई हिसा से निस्तेज हो जाती है । सैद्धान्तिक अहिंसा में प्रकट शक्ति नही है । उसका उदय अन्तस् की अहिसा में होता है । अन्तस् की अहिंसा यानी वृत्तियों के व्यूह को भेदकर आनेवाली अहिंसा । वृत्ति के एक पार्श्व की चर्चा मै अपनी अनुभूति के सदर्भ मे करूँगा । मेरे गुरु ने कहा— किसी व्यक्ति को प्रसन्न रखने की आकाक्षा अच्छी नही है । मै एक क्षण के लिए विस्मित-सा रहा । मैने वे शब्द आश्चर्य के साथ सुने । फिर कुछ समय के पश्चात् मैने उन पर चिन्तन किया । मुझे लगा वे शब्द सत्य को अपने मे समेटे हुए हे । मनुष्य अपने आप मे पूर्ण है । उसकी अपूर्णता का पहला विन्दु भय है ।

भय और आकांक्षा

भय का होना और आकाक्षा का होना दो नही है। जिसके मन मे कोई आकाक्षा नही है उसके मन मे कोई भय नही है, यह स्थापना तर्क से सर्वथा अनाहत है। जीवन की आकाक्षा नही है और मौत का भय है, क्या इस उक्ति मे विरोधाभास नही है ?

दु ख का भय उसे कब सताएगा, जो सुख की आकाक्षा से मुक्त हो चुका है। निन्दा का भय उसी को आक्लात करता है, जिसके मन मे प्रशंसा की भूख है। मै दूसरो से इसलिए डरता हू कि उनके मन में अपनी पूर्णता का प्रतिबिम्ब देखने की ईप्सा मेरे अन्त करण मे विद्यमान है। मैने आकाक्षा के धागे को जितना बाहर की ओर फैलाया है उतना ही भय का जाल मैने बुना है।

मुझे भय है कि उस धागे को तोड़कर मै जी नही सकता। इस भय का जन्म आकाक्षा से उत्पन्न भय से हुआ है। इसी भय ने मेरी वास्तविक उपलब्धि पर आवरण डाल रखा है। आकांक्षा का नही होना सबसे बड़ी उपलब्धि है। सचाई यह है कि आकांक्षा के धागे को तोड़कर मै जो पा सकता हू, वह उसके अस्तित्व मे नही पा सकता।

पूर्णता का अर्थ

पाना कुछ नही है। जो प्राप्य है, वह अन्तस् मे प्रस्थापित है। किन्तु बाहर से पाने की आकाक्षा ने कृत्रिम भूख पैदा कर रखी है। मै जो भी खाये जा रहा हू, सब स्वाहा हो रहा है और भूख बढ़ती जा रही है। यही मेरी अपूर्णता है। पूर्णता का अर्थ है आकाक्षा का न होना। आकाक्षा के न होने का अर्थ है भय का न होना। भय के न होने का अर्थ है अहिंसा का होना।

मेरे मन मे आकांक्षा है, उससे उत्पन्न भय है और मै मानता हू कि मै अहिसक हू, क्या ऐसा हो सकता है ?

जो अपने को अहिसक मानता है और अहिसा के पथ पर निरन्तर गतिशील रहता है, वह आत्मालोचन से विमुख नही हो सकता। व्यवहार की भूमिका मे दोष का आरोपण दूसरो पर करना और अपनी पूर्णता पर आवरण डालते जाना सम्मत है किन्तु अहिसा की पार्श्वभूमि मे यह सब बदल जाता है। इस बदली हुई स्थिति मे ही अहिसा की शक्ति प्रकट होती है।

आहेसा के दो स्तर

जिस दिन मनुष्य समाज के रूप में संगठित रहने लगा, आपसी सहयोग, विनिमय तथा व्यवस्था के अनुसार जीवन बिताने लगा, तब उसे सहिष्णु बनने की आवश्यकता हुई। दूसरे मनुष्य को न मारने, न सताने और कष्ट न देने की वृत्ति बनी। प्रारम्भ मे अपने परिवार के मनुष्यों को न मारने की वृत्ति रही होगी, फिर क्रमश. अपने पड़ोसी को, अपने ग्रामवासी को, अपने राष्ट्रवासी को, होते-होते किसी भी मनुष्य को न मारने की चेतना बन गई। मनुष्य के बाद अपने उपयोगी जानवरो और पक्षियो को भी न मारने की वृत्ति बन गई। अहिसा की यह भावना सामाजिक जीवन के साथ-साथ ही प्रारम्भ हुई और उसकी उपयोगिता के लिए ही विकसित हुई, इसीलिए उसकी मर्यादा बहुत आगे नही बढ सकी। वह समाज की उपयोगिता तक ही सीमित रही।

समाज का अस्तित्व और अहिंसा

सामाजिक जीवन आवश्यकताओ का विकास और प्रवृत्तियो का विकास है। इसमे से दो विरोधी धाराएं विकसित होती है, जैसे

१ हिसा और अहिंसा,
२. असत्य और सत्य,
३. चौर्य और अचौर्य,
४. सग्रह और असंग्रह,
५ स्वार्थ और परार्थ।

यदि हिसा आदि तत्त्व ही विकसित होते तो सामाजिक जीवन उदित होने से पहले ही अस्त हो जाता और यदि अहिसा आदि तत्त्व ही विकसित होते तो सामाजिक जीवन गतिशील नही बनता। इस तथ्य की स्वीकृति वास्तविकता की अभिव्यक्ति मात्र होगी कि हिसा और अहिसा— ये दोनो तत्त्व सामाजिक अस्तित्व को धारण किए हुए है। ये दोनो भिन्न दिशागामी है, इसलिए इन्हें विरोधी धाराए कहा जा सकता है किन्तु दोनो एक लक्ष्य (समाज-विकास) गामी है, इस स्तर पर इन्हे अविरोधी धाराएं भी कहा जा सकता है।

आत्मा का अस्तित्व और अहिसा

कोई भी विकास एकपक्षीय धारा मे अपना अस्तित्व बनाए नही रख सकता। हर विकास की प्रतिक्रिया होती है और उसके परिणामस्वरूप प्रतिपक्षी तत्त्व का विकासक्रम प्रारम्भ होता है।

भौतिक अस्तित्व की प्रतिक्रिया ने मनुष्य को आत्मिक अस्तित्व की ओर गतिमान बनाया। उसे इस सत्य की दृष्टि प्राप्त हुई कि चेतन का अस्तित्व अचेतन से स्वतन्त्र है। यह जगत् चेतन और अचेतन—इन दो सत्ताओ का सासर्गिक अस्तित्व है। उस दिन सामाजिक विकास के सामने आर्थिक विकास और राजतन्त्र के सामने आत्मतन्त्र का प्रथम सूत्रपात हुआ। इस सूत्रपात ने अहिसा आदि का मूल्य-परिवर्तन कर डाला। सामाजिक अस्तित्व के स्तर पर उनका मूल्य सापेक्ष और ससीम था, वह आत्मिक अस्तित्व के स्तर पर निरपेक्ष और नि सीम हो गया। सामाजिक क्षेत्र में अहिसा का अर्थ था प्राणातिपात का आशिक निषेध— मनुष्यो तथा मनुष्योपयोगी पशु-पक्षियो को न मारना और न मारने का लक्ष्य था— सामाजिक सुव्यवस्था का निर्माण और स्थायित्व।

आत्मिक क्षेत्र मे अहिंसा का अर्थ हुआ प्राणातिपात का सर्वथा निषेध— किसी भी प्राणी को न मारना, न मरवाना और मारने वाले का अनुमोदन भी नही करना। प्राणातिपात के सर्वथा निषेध का लक्ष्य था मुक्ति अर्थात् आत्मोदय।

मुक्ति का दर्शन जैसे-जैसे विकसित हुआ, वैसे-वैसे अहिसा की मर्यादा भी व्यापक होती चली गई।

हिसा का मूल है अविरति

व्यापक मर्यादा मे इस भाषा को अव्याप्त माना गया कि प्राणातिपात ही हिसा है और अप्राणातिपात ही अहिसा है। वहा हिसा और अहिसा की परिभाषा की आधारभित्ति अविरति और विरति बन गई। अविरति अर्थात् वह मानसिक ग्रन्थि, जो मनुष्य को प्राणातिपात करने मे सक्रिय करती है, जब तक उपशान्त या क्षीण नही होती तब तक हिसा का बीज उन्मूलित नही होता। इसलिए हिसा का मूल अविरति है, प्राणातिपात उसका परिणाम है। वह व्यक्त हिसा उस मानसिक ग्रन्थि या अव्यक्त हिसा के अस्तित्व मे ही सम्भव है।

विरति—हिसा-प्रेरक मानसिक ग्रन्थि की मुक्ति जब हो जाती है तब हिसा का बीज उन्मूलित हो जाता है। अहिसा का मूल विरति है, अप्राणातिपात उसका परिणाम है। यह व्यक्त अहिसा हिसा-प्रेरक मानसिक-ग्रन्थि की मुक्ति होने पर ही विकासशील बनती है। इस प्रकार आत्मा के अस्तित्व मे अहिसा के अर्थ, उद्गम और लक्ष्य मे आमूलचूल परिवर्तन हो गया।

अभय

भगवान् महावीर को ग्रन्थ से अतीत, अभय और अनायु कहा गया है। वे अभय थे इसीलिए उन्होने अभय का बहुत सुन्दर उपदेश दिया। प्रश्न-व्याकरण सूत्र मे उसका जितना मर्मभेदी वर्णन है, उतना अन्यत्र विरल स्थानो मे ही होगा। अभय भगवान् महावीर का पहला सूत्र था, क्योकि वे अहिंसक थे। अहिसक अभय होता है। जो अभय नही होता, वह अहिसक भी नही होता। अभय शब्द हमारे लिए सुपरिचित है। क्योकि हम साधु है, साधना का पथ स्वीकार कर रखा है। साधना यानी मोह का विलीनीकरण। भय मोह से पैदा होता है। वास्तविक भय कम होता है, अधिकांश भय कल्पना-जनित होता है। सन्देह के कारण भय जाग जाता है। मार्ग मे गाय खड़ी है। पाच-सात व्यक्तियो को आते देख वह रौद्र रूप धारण कर लेती है। उसके मन में सन्देह होता है कि ये मेरे पर आक्रमण करने आ रहे है।

पशु ही नही, मनुष्य भी आशका से दूसरो की हिसा कर देता है। 'अमुक व्यक्ति मेरा अनिष्ट करेगा'—इस भावी कल्पना मे उलझकर वह दूसरो की हिसा करता है।

भय के हेतु

भय क्या है ? अनिष्ट की आशंका उत्पन्न करनेवाली सामग्री। योग और वियोग की आशंका, अनिष्ट और अप्रियता की आशंका ही भय पैदा करती है। ममत्व के साथ भी उसका गहरा संबध है। स्थानाग सूत्र में भय की उत्पत्ति के चार कारण बतलाये गये है

१. हीनसत्त्व— हीनसत्त्वता, दुर्बलता।

२. भय वेदनीय— संस्कारो का विपाक।

३ मति— भय का मनन।

४ तदर्थोपयुक्तता— भय के चिन्तन मे एकाग्रता।

चार कारणो में एक कर्मज है और तीन नोकर्मज है। हर व्यक्ति मे दुर्बलता होती है, कोई परिपूर्ण नही होता। भय अपनी दुर्बलता के कारण ही सताता है।

भय के परिणाम

भय के दो परिणाम वहुत स्पष्ट है— रोग और सुख की हानि। सामाजिक जीवन

मे भय न हो तो कार्य कैसे चले ? 'लोग क्या कहेंगे ?'— यह भय बहुत बार बुराइयो से बचाता है। सामाजिक जीवन मे भय अनावश्यक है, यह कहना कठिन है। सबका जीवन उन्नत नही होता, इसलिए यदि किंचित् मात्रा में भय न हो तो व्यवस्था ठीक नही चलती।

अभय और आत्मानुशासन

साधना की दृष्टि से विचार करे तो हमारे मन मे भय नही होना चाहिए। प्रश्न उठता है— भय नही होगा तो अनुशासन-हीनता पनप जाएगी और विघटन का मार्ग खुल जाएगा। यदि भय होता है तो साधना में बाधा आती है।

कुछ लोग इस भाषा मे बोलते है— मै किसी से नहीं डरता। क्या यह अभय है ? ऐसा कहना अभय नही, दु साहस है। अभय वह होता है जिसके मन मे कर्तव्य का बोध जाग जाए, आत्मानुशासन का बीज अकुरित हो जाए।

अभय के सूत्र

साधना के क्षेत्र मे अभय होने के तीन सूत्र है

१ निर्ममत्व की साधना।

२ निर्विकल्पता की साधना।

३ मैत्री।

निर्ममत्व और निर्विकल्पता का विकास होगा तो भय की साधन-सामग्री अपने-आप क्षीण हो जाएगी। जैसे-जैसे चित्त के केन्द्रीकरण का अभ्यास बढ़ता जाएगा, वैसे-वैसे भय की मात्रा कम होती जाएगी। ध्यान के अभ्यास से क्रोध स्वय त्यक्त हो जाता है। कषाय का प्रत्याख्यान कराया नही जाता, वह स्वयं हो जाता है। मन पर विजय पाने का अभ्यास करने से वह त्यक्त हो जाता है। भय, घृणा, ईर्ष्या, लोभ आदि स्वय मिट जाते है।

कल्पना (सन्देह) कम होने से भय को आगे आने का अवसर नही मिलता। भय को भोजन न मिलने से वह अपनी मौत मर जाता है।

वैदिक ऋषि कहते है

सर्वा आशा मम मित्राणि सन्तु।
—सब दिशाए मेरी मित्र हो।

जैन ऋषि कहते है

मित्ती मे सव्व भूएसु।
—सब मेरे मित्र है।

उक्त तीन भावनाओं की आराधना से अभय प्राप्त होता है। जैसे नवनीत मन्थन का परिणाम है, वैसे ही अभय इन तीन भावनाओं की आराधना का परिणाम है

प्राणी डरता है दुःख से

एक बार भगवान् महावीर से पूछा गया— 'भंते ! कि भया पाणा ?' 'भगवन् ! प्राणी किससे डरते है ?'

'दुखभया पाणा'—दुख से ।

'दुक्खे केण कडे ?'—दुख का कर्त्ता कौन है ?

'पमाएणं'—अपना ही प्रमाद ।'

'उसका नाश कैसे होता है ?

'अप्रमाद से ।'

हमारे मन मे प्रमाद नहीं होगा तो दुःख का कारण नही हेगा । दु.ख का कारण नही होगा तो भय भी नही होगा ।

जीवन के दो बिंदु : नीति और अध्यात्म

जीवन एकरस और धारावाही है। उसके टुकड़े नहीं किये जा सकते— यह सच है, किन्तु स्थूल। सूक्ष्म सत्य की दृष्टि से जीवन चैतन्य के धागे में पिरोई हुई भिन्न-भिन्न मोतियो की माला है। उसकी प्रत्येक और प्रत्येक बार की प्रवृत्ति उसे खंड-खड कर डालती है। देश और काल उसे जुड़ा नही रहने देते। स्थितिया अनुस्यूति को सहन नही करती। मोहन दो वर्ष की आयु मे भी मोहन था और आज सौ वर्ष की आयु मे भी मोहन है। उसके जीवन का धागा टूटा नही, वह टूट जाता तो मोहन क्या बनता, यह हमारी ऑखो से परे की बात है। किन्तु मोहन का जीवन-धागा दो वर्ष की आयु मै जैसा था वैसा ही सौ वर्ष की आयु मे है— यह कौन मानेगा ? वह बदला है और बदलता आया है। यह बदलने की बात भी सच है किन्तु एकान्तत नही। बदलता वही है, जो पहले होता है और आगे भी। जो न आगे होता है और न पीछे, वह बीच मे भी नही होता— "जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कुओ सिया।"

सापेक्षता ही जीवन है

भविष्य ही वर्तमान बनता है और वर्तमान ही अतीत। पहले से जो है वही वर्तमान मे आता है, वही वर्तमान स्थित बन अतीत मे परिणत हो जाता है। काल स्वय अखड है। वह अतीत, वर्तमान और भविष्य बनता है पर सापेक्ष होकर। जहां द्वैत है वहा परस्पर सापेक्षता आवश्यक है। एक को समझने के लिए दूसरे को समझना ही होगा। जहा एक ही होता है वहा समझने की स्थिति ही नही बनती। एक अनेक-सापेक्ष होता है और अनेक एक-सापेक्ष। इसीलिए एक को समझने के लिए अनेक को और अनेक को समझने के लिए एक को समझने की बात अपने आप आती है— "जो एग जाणई से सव्व जाणई, जो सव्व जाणई से एग जाणई।" मोहन मित्र-गोष्ठी मे बैठ आमोद-प्रमोद का जीवन बिताता है और दुकान मे बैठ व्यापारिक उलझन मे फंस गंभीर बन जाता है। आमोद-प्रमोद और गंभीरता की समझ मोहन-सापेक्ष है और मोहन की समझ आमोद-प्रमोद और गंभीरता-सापेक्ष। यह सापेक्षता ही जीवन है। जीवन शरीर-सापेक्ष है। शरीर-मुक्त अवस्था में जीवन, [illegible] नहीं होता। तर्कवाद का मायाजाल जीवन में [illegible] [illegible] नहीं होता [illegible] तक तर्क पहुंचता है [illegible]

पुद्गल और चेतना का समन्वय

जीवन के परिपार्श्व में वाणी चलती है, मन उड़ान भरता है। शरीर, वाणी और मन—तीनो की सृष्टि जीवन मे होती है। तीनो की सृष्टि जीवन है। पुद्गल के साथ चेतना का जो समन्वय है, वह जीवन है। जीवन निखरता है, रूप, रस, गध और आकार से। चेतना का आधार अरूप है, अरस है, अगध और अनाकार हैं। जीवन दृश्य है, वह अदृश्य है। जीवन पौद्गलिक है, वह अपौद्गलिक है। जीवन कर्म है, वह कर्त्ता है, प्राणी है। प्राणी प्राणो से बधा हुआ है। प्राण आते है, चले जाते है। प्राणी बंधता है, छूट जाता है। प्राणी नही मिटता, प्राण भी नही मिटते। प्राणी और प्राण का सम्बन्ध मिट जाता है। फिर प्राणी उन प्राणो का प्राणी नही रहता और वे उस प्राणी के प्राण नही रहते, यह समझौते की समाप्ति है। यही जीवन का अन्त है। इसी का नाम है मौत। प्राणी व प्राणो की संधि जीवन है। चलना, बोलना और सुनना— ये आत्मा और पुद्गल दोनों के स्वभाव-धर्म नही है। दोनो मिलते है, तीसरी वस्तु निकल आती है। वह न आत्मा है और न पुद्गल ही, उसका अपना नाम है— 'जीवन'। वह आत्मा भी है और पुद्गल भी। वह कर्म और चेतना का समन्वय है, पार्थिव और अपार्थिव की मिली-जुली सरकार है।

जीवन का लक्ष्य

जीवन का लक्ष्य क्या है—यह अगम्य है। लक्ष्य क्या होना चाहिए— यह विचार करने की वस्तु है। लक्ष्य-निर्णय के पूर्व लक्ष्य-निर्णेता के स्वरूप का निर्णय आवश्यक है। लक्ष्य-निर्णय का जो चेतन है। वह स्वतत्र सत्ता है या नही— यह प्रश्न चोटी का है। चोटी का इसलिए कि उसको पकड़े बिना नीचे की कल्पनाओ को बढ़ने की दिशा नही मिलती। चेतना की स्वतंत्र सत्ता को त्रिकालभावी माननेवाले की जो दिशा होगी वह उसे वर्तमान जीवन पर्यवसित माननेवाले की नही होगी। उनके मध्य मिलते लगेगे, किन्तु उनके छोर दो होगे। आत्मवादी आध्यात्मिकता या सयम का स्वतत्र मूल्य जानता है। नीति से आगे जाना चाहिए—यह अनात्मवादी की समझ से परे की बात है। आत्म-शान्ति या सुख-दु ख मे सम रहने की वृत्ति के लिए आत्मनिष्ठ सोच सकता है। अनात्म-निष्ठ के लिए वह चिन्तन का विषय नही बनता। शुभ-अशुभ कर्म और उसका अवश्यभावी भोग इस जीवन मे या उससे आगे— ये जो अध्यात्म के आधार है, वे नीति के नही है। नीति तात्कालिक या दृश्य लाभालाभ की दृष्टि है अथवा मुख्यतया पौद्गलिक, पदार्थ-परक है। अध्यात्म शाश्वत लाभ का विचार है और वह आत्म-परक है।

सामाजिक जीवन का आधार

किसी युग मे सारे मनुष्य आस्तिक और नास्तिक इन दो धाराओ मे बटे हुए थे। वर्तमान मे सब लोग सह-अस्तित्व और असह-अस्तित्व की धारा मे बटे हुए है। अधिकाश देश सह-अस्तित्व, नि शस्त्रीकरण और समझौता-नीति मे विश्वास करते है तथा युद्ध से घृणा करते हे। कुछ देश असह-अस्तित्व और विवाद बढ़ाने मे विश्वास करते है तथा युद्ध को अनिवार्य मानते है। जितने भी विग्रह, कलह या युद्ध होते है, वे सब निरपेक्षता से होते हे।

सामाजिक जीवन का मूल आधार सापेक्षता है। भौगोलिक सीमाओ से विभक्त होने पर भी सब मनुष्य एक ही समाज के अविभक्त अग है। शरीर के अगो की सस्थान-रचना और कार्य-प्रणाली जैसे भिन्न होती है, वैसे ही समाज के अग-भूत मनुष्यो की सस्थान-रचना और कार्य-प्रणाली भिन्न होती है। भेद को ही सामने रखकर यदि एक अग दूसरे से निरपेक्ष होता है, उसकी उपेक्षा करता है, तो अगी स्वस्थ नही रहता। एक की क्षति का फल-भोग समूचे अगी को, दूसरी भाषा में सभी अगो को करना पड़ता है।

अतराष्ट्रीयता का अर्थ

आज कोई एक देश दूसरे देश पर आक्रमण करता है, उससे निरपेक्ष व्यवहार करता है या उसकी उपेक्षा करता है तो उसकी प्रतिक्रिया एक छोर से दूसरे छोर तक होती है। वह प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न बन जाता है। अन्तर्राष्ट्रीयता का अर्थ ही सह-अस्तित्व है। इसका आधार है भेद और अभेद का समन्वय। विश्व मे ऐसा कोई भी पदार्थ नही है, जो सर्वथा भिन्न हो या सर्वथा अभिन्न ही हो। भिन्नता और अभिन्नता की समन्विति में पदार्थ का अस्तित्व है और वही वास्तविक सचाई है। असह-अस्तित्व का सिद्धान्त इसे झुठलाने का प्रयत्न है पर वह सफल नही हो सकता। मनुष्य के अस्तित्व का आधार सह-अस्तित्व ही हो सकता है। असह-अस्तित्व का सिद्धान्त एक मानसिक उन्माद है। एक दिन हिटलर इससे ग्रस्त हुआ और दूसरा महायुद्ध छिड़ गया।

[illegible] नहीं है मनुष्य

प्रकार से सोचता और एक ही प्रकार से काम करता परन्तु वह यांत्रिक नही है। वह अपनी पूर्ण चैतन्य-सत्ता का उपभोक्ता है इसलिए वह अपने-आप में पूर्ण स्वतत्र है। वह एक ही प्रकार से नही सोचता और एक ही प्रकार से नही करता। वह उसकी सहज प्रवृत्ति है। किन्तु मनुष्य मनुष्य-जाति की इस सहज प्रवृत्ति को ही सुलह या युद्ध का हेतु बना रखा है।

सापेक्षता मे अविश्वास करने वाले इस बात को भुला देते है— 'मनुष्य यात्रिक नही है। वह अपनी पूर्ण चैतन्य-सत्ता का उपभोक्ता है।' इस विस्मृति का परिणाम ही असह-अस्तित्व है। जिनको सह-अस्तित्व मे विश्वास नही है, उन्हे मानवता मे विश्वास नही है। उनका विश्वास मनुष्य को यात्रिक बनाने मे ही है। किन्तु यह मनुष्य-जाति के प्रति बहुत जघन्य अपराध है।

सह-अस्तित्व का अर्थ है—मनुष्य के सोचने, करने तथा अपने ढंग से चलने की स्वतन्त्रता मे विश्वास। 'या मै या तुम' यह विनाश का मार्ग है विकास का मार्ग यह है कि 'मै भी रहू और तुम भी रहो'।

चिन्तन का क्षितिज

[साप्ताहिक हिन्दुस्तान (२ जुलाई १९८९) मे अध्यात्म स्तंभ के अंतर्गत 'महाप्रज्ञ उवाच' शीर्षक से आचार्यश्री महाप्रज्ञ के चिन्तन की मौलिकता के कुछ विन्दु प्रकाशित हुए। प्रस्तुत आलेख मे वह अविकल रूप में प्रस्तुत है।]

—संपादक

अध्यात्म का रहस्य

बहुत विचित्र घटनाएं घटित होती हैं। मन में कोई भी विकल्प उठा, एक विचार आया और हमने उसकी उपेक्षा कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि वह बीज बो दिया गया और बीज जब बड़ा होगा तो निश्चित ही अपना परिणाम लाएगा। हम दुनिया की घटनाओ को देखे। पचास-साठ वर्ष तक जिस व्यक्ति का जीवन यशस्वी रहा, जिस व्यक्ति का पूर्वार्द्ध पूर्ण तेजस्वी और उदितोदित रहा, वही व्यक्ति अपने जीवन के उत्तरार्द्ध मे पतित हो गया, नष्ट हो गया। हमे आश्चर्य होता है कि यह कैसे हुआ? जो व्यक्ति पचास-साठ वर्ष तक यशस्वी और तेजस्वी जीवन जी लेता है वह आगे के वर्षो मे पतन की ओर कैसे जा सकता है। हम सामान्यत इसकी व्याख्या नहीं कर सकते। किन्तु ऐसा घटित होने के पीछे भी कुछ कारण अवश्य होते हैं। यदि हम सूक्ष्मता से ध्यान दे, गहराई से सोचे तो यह तथ्य स्पष्ट होगा कि बीज बोया गया था, उसका प्रायश्चित नहीं हुआ, वह वृक्ष बन गया, घटना घटित हो गयी।

अध्यात्म का बहुत बड़ा रहस्य है कि हम उस क्षण के प्रति जागरूक रहे, जिस क्षण मे राग और द्वेष के बीज की बुवाई होती है ।

दो मुख्य केन्द्र

शरीर में दो मुख्य केद्र है । एक है काम-केद्र और दूसरा है ज्ञान-केद्र । नाभि के नीचे का स्थान काम केद्र है, वासनाकेद्र है । मस्तिष्क है ज्ञानकेद्र । हमारे शरीर मे ऊर्जा का एक ही प्रवाह है । जहां मन जाएगा, वहा ऊर्जा जाएगी, जहा मन जाएगा, वहा प्राण जाएगा । यदि हमारा मन, हमारा चितन कामकेद्र की ओर ज्यादा आकर्षित होता है तो उसे बल मिलेगा, शक्ति मिलेगी और वह समृद्ध होगा । प्रकृति का यह अटल नियम है कि जिसे सिचन मिलता है, वह पुष्ट होता है, जिसे सिचन नही मिलता, वह सूख जाता है, नष्ट हो जाता है । जिसे सिचन प्राप्त है, वह बढ़ता है, फलता-फूलता है । जिसे सिचन प्राप्त नही है, वह टूट जाता है, ठूठ मात्र रह जाता है । हमारी ऊर्जा का जिसे सिचन मिलेगा, वह अवश्य पुष्ट होगा, बढ़ेगा, फलेगा-फूलेगा फिर चाहे वह कामकेद्र को मिले । यदि हमारा चितन नीचे की ओर जाता है, कामकेद्र की ओर जाता है तो हमारी ऊर्जा का प्रवाह उस ओर मुड़ जाता है । हमारी सारी प्राण शक्ति उसी ओर प्रवाहित होने लग जाती है । तब कामकेद्र बलवान होता जाता है और ज्ञानकेद्र कमजोर होता जाता है । यह है लौकिक चित्त की प्रक्रिया । यह है लौकिक चित्त का कार्य । लौकिक चित्त सदा कामना को पुष्ट करता है कामकेद्र को सिचन देता है, बलवान बनाता है ! हम यह भली भाति जानते है कि मनुष्य के जीवन मे कामना का जितना तनाव होता है उतना तनाव किसी का भी नही होता । यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से निरतर रहने वाला तनाव है । क्रोध का आवेग कभी-कभी होता है, लोभ की चेतना कभी-कभी होती है कितु काम की चेतना निरतर रहती है । जब हमारी चेतना कामकेद्र की ओर अधिक बढ़ने लगती है तब सहज ही ज्ञानकेद्र की शक्तिया क्षीण होती जाती है । साधना से इसे उलटना होता है । जो साधक अपने ज्ञान का विकास चाहता है, जो निर्मलता चाहता है, उसे चेतना के प्रवाह को उलटना होगा, मोड़ना होगा । अर्थात मन को ऊपर की ओर ले जाना होगा ।

मूल्याकन का मार्ग

हम इस दुनिया मे सत्य और भ्राति के चक्र मे पड़े हुए है । धर्म का सारा मार्ग सत्य की खोज के लिए है । आदिकाल से मानव सत्य की खोज करता चला आ रहा है । साथ-साथ भ्राति भी चल रही है । यह चलती रहेगी । यदि भ्राति साथ-साथ नही चलती तो धर्म की आज कोई अपेक्षा ही नही रह जाती । कितु जैसे-जैसे धर्म का विस्तार हुआ है, वैसे-वैसे भ्राति का भी विस्तार हुआ है । हम धर्म और अध्यात्म की बात करते है सत्य की उपलब्धि के लिए । आदमी सोने का मूल्य कर सकता है, पर मिट्टी का नही । क्योंकि वह इतनी सहज और सुलभ है कि हर आदमी उसे प्राप्त कर सकता है । यह सच है

ोने की तुलना मे मिट्टी का मूल्य हजार गुना अधिक है। सोना आदमी को मार सकता र मिट्टी ने न जाने कितने मरने वालो को उबारा है। फिर भी मिट्टी का मूल्य नही ा जा सकता क्योकि वह सहज है, सुलभ है। हम रोटी का मुल्याकन करते है क्योकि हमारा जीवन है। परतु जो सचमुच जीवन है, उसका हम कभी भी मूल्याकन नही ते। वह है प्राण। वह है हमारा स्वास्थ्य। साधना की पद्धति मूल्याकन का ही मार्ग

ध्यात्म और सप्रदाय

जहां मतभेद का प्रश्न है वहा हजार सप्रदाय हो जाते है। लोग कहते है—सप्रदाय हो। मै इस भाषा मे सोचता हू कि हजारो सप्रदाय हो। हर व्यक्ति का एक सप्रदाय । अध्यात्म ही एक ऐसा विकल्प है जहा कोई सप्रदाय-भेद नही है। साधना और ध्यात्म मे कोई सप्रदाय-भेद नही होता।

साधना का सबसे बड़ा योग है ध्यान। ध्यान का अर्थ है—निर्विकल्पता, जहा कोई कल्प नही, विवाद नही। इसमे मतवाद का प्रश्न ही नही उठता। साधना मे मुह बद ता है, कान बद होते है, आंखे बद होती है, फिर वहा विवाद का प्रश्न ही कैसे उठेगा ? मारी जो नैतिकता की पूजी है, उसकी मूल पृष्ठभूमि है— अध्यात्म। अध्यात्म के आधार र ही नैतिकता विकसित हो सकती है। आज हमारा सारा ध्यान शरीर-केंद्रित हो गया मूल है मन। उसकी हम उपेक्षा करते चले जा रहे है। हमे सबसे अधिक प्रभावित करने ाला तत्त्व है—मन

ात्मा और प्राण

दो वस्तुए है—आत्मा और प्राण। एक है आत्मशक्ति और एक है प्राणशक्ति। क है प्राणबल और एक है आत्मबला। हमारा लक्ष्य है— आत्मोपलब्धि। हम आत्मा े मूल स्तर तक पहुचना चाहते है, आत्मा को पाना चाहते है, मूल चेतना तक पहुचना ाते है। यह है हमारा मूल लक्ष्य। इससे पहले आता है प्राण। उसका स्थान इससे [illegible]। आत्मा तक कौन पहुच पाता है, आत्मा तक वही पहुच पाता है, जो प्राणवान जो शक्तिशाली है। जिसका मनोबला ऊचा है, जिसका सकल्प-दल प्रबल है वह पहुच [illegible] आत्मा तक। जिसकी इच्छाशक्ति प्रदल है वह आत्मा तक पहुच पाएगा। जिसका [illegible] क्षीण है, जिसका सकल्पदल क्षीण है, जिसकी इच्छाशक्ति, प्राणशक्ति दुर्बल है, [illegible] दुर्बल है वह कभी आत्मा को नही पा सकता। आत्मा को पाने के लिए प्राण को [illegible] बनना जरूरी है। जो जाप का स्तर है, वह प्राण के स्तर पर चलने वाला [illegible] प्राण को शक्तिशाली बनाता है। प्राण हमारी विद्युत शक्ति होती है। [illegible] [illegible] नही होता। जिसमे यह शक्ति न हो। हमारी सारी सक्रियता, [illegible] [illegible] और निषेध, हमारी वाणी, हमारा चिन्तन हमारी गति हमारी [illegible]

आकर्षण—ये सब प्राण के आधार पर होते है, विद्युत् शक्ति के आधार पर ह
विद्युत् ही ये सारे कार्य निष्पन्न करती है। विद्युत् को बढ़ाना मनोबल को बढ़
जिसकी विद्युत् तीव्र होती है उसका मनोबल बढ़ जाता है। जिसकी विद्युत् क्षी
है उसका मनोबल घट जाता है।

हिंसा अज्ञान में नहीं होती है। कोई भी अज्ञानी कभी हिंसा न
सकता। हिंसा ज्ञानवान् प्राणी करता है, जीव करता है। ज्ञानवान् जीव
है। हिंसा भी ज्ञान में होती है। और असत्याचरण भी ज्ञान में ही हो
चोरी भी ज्ञान मे होती है। वासनाएं और दुर्भावनाएं भी ज्ञान की स
होती हैं।

एकता के प्रयत्न

णीमात्र की एकता का लघु सस्करण है मानवीय एकता। मानवीय एकता का लघुतर स्करण है राष्ट्रीय एकता। राष्ट्रीय एकता का लघुतम सस्करण है सामाजिक एकता। णीमात्र की एकता पर्यावरण की सुरक्षा का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। मानवीय एकता शन्तिपूर्ण हअस्तित्व का मौलिक सूत्र है। राष्ट्रीय एकता विकास का उपादान सूत्र है। सामाजिक कता सद्भावना का आधारसूत्र है। पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी ने इन चारो स्तरों पर काम त्या है। उनका मत है— व्यापक हित को ध्यान में रखे बिना सीमित हित को भी साधा ही जा सकता।

मस्या पर्यावरण की

पर्यावरण की समस्या जागतिक समस्या है। इस समस्या के समाधान का रचनात्मक लू माना जाता है पर्यावरण प्रदूषण को मिटाने के साधनो का विकास किन्तु इसका कारात्मक पहलू अधिक मूल्यवान् है। अनावश्यक हिसा, जंगलो की कटाई, पानी का पव्यय, भूमि का अतिरिक्त दोहन—ये सब चले और प्रदूषण को मिटाने के लिए ए विकल्प खोजे जाए। इन दोनों मे संगति नहीं है। तथ्य को ध्यान मे रखकर अनावश्यक हिंसा के दर्जन पर बल दिया गया।

मानवीय एकता . बाधक तत्व

मानवीय एकता का बाधक तत्व है राष्ट्रवाद, अथवा राष्ट्रीय कट्टरता। अपने राष्ट्र की समृद्धि के लिए दूसरे राष्ट्र के हितो को कुचलना— यह कूटनीति का चातुर्यपूर्ण जाल है। इस जाल को फैलाने मे अनेक राष्ट्र लगे हुए है। अणुव्रत ने राष्ट्रवाद की सीमा से हटकर मानवीय एकता का संदेश जन-जन तक पहुंचाया।

राष्ट्रीय एकता का प्राणतत्व

विस्मृति ही राष्ट्रीय एकता विखण्डन करती है । उसकी स्मृति अथवा चेतना जागृत रहे तो राष्ट्रीय एकता कभी विखण्डित नही हो सकती । अनेक सम्प्रदायो के तुमुलरव मे धर्म की आवाज सुनाई नही देती । इस दशा मे सम्प्रदाय-विहीन या मानवधर्म की आवाज को बुलन्द करना सचमुच एक सूझ-बूझ पूर्ण और साहसिक कदम है !

विरोध राजनीति की भाषा से

अन्नामलै युनिवर्सिटी मे पूज्य गुरुदेव ने नैतिक मूल्यो के विकास पर एक प्रवचन किया । उन दिनो तमिलनाडु मे हिन्दी विरोधी आन्दोलन पूरे वेग पर था और उस युनिवर्सिटी के छात्र उसकी अगुवाई कर रहे थे । कुलपति ने अनुरोध किया, आप अग्रेजी मे प्रवचन करे । गुरुदेव ने अस्वीकार कर दिया । उनका पुन अनुरोध था— आप सस्कृत मे प्रवचन करे । गुरुदेव ने उसे भी नही स्वीकारा और साफ-साफ कहा— यदि प्रवचन होगा तो हिन्दी में होगा अन्यथा नही होगा । आखिर हिन्दी में प्रवचन हुआ । प्रवचन का प्रारम्भ इस वाक्य से हुआ— मै तमिल नही जानता । यदि जानता तो तमिल मे प्रवचन करता । आप मेरी इस असमर्थता को क्षमा करेगे । भाषा पर नही, भावना पर ध्यान देगे ।

भावना की अजस्रधारा मे भाषा का प्रश्न प्रवाहित हो गया । पुन एक बार और प्रवचन करने का आग्रह छात्रो ने किया । सब आश्चर्य की मुद्रा से देख रहे थे । कुलपति स्वय आश्चर्य निमग्न थे । छात्रो ने कहा— आपकी भाषा हृदय की भाषा है । इससे हमारा कोई विरोध नही है । हमारा विरोध केवल राजनीति की भाषा से है ।

सदर्भ चुनाव का

राजनीति ने चाहे अनचाहे राष्ट्रीय एकता पर काफी प्रहार किए है । चुनावी राजनीति भेद के अणुओ से निर्मित हुई है और उसकी परिणति है विखण्डन । जातीय एकता साम्प्रदायिक सद्भावना के सारे प्रयत्न चुनाव के दिनो मे धराशायी हो जाते है । जातिवाद और सम्प्रदायवाद को उन दिनो जितना उभारा जाता है, उतना शायद कभी नही । इस सचाई का अनुभव कर पूज्य गुरुदेव ने एक गोष्ठी का आयोजन किया ।

२२ दिसबर १९५९ का दिन । कास्टीट्यूशन क्लब, कर्जन रोड, नई दिल्ली अखिल भारतीय राजनैतिक दलो के नेताओ की परिषद का आयोजन । आयोजक अणुव्रत समिति । सन्निधि गुरुदेव श्री तुलसी की । उसमे भाग ले रहे थे, चुनाव मुख्यायुक्त श्री सुकुमार सेन, काग्रेस अध्यक्ष श्री यू० एन० ढेबर, साम्यवादी नेता श्री ए० के० गोपलन प्रजा समाजवादी नेता आचार्य जे० बी० कृपलानी आदि ।

पूज्य गुरुदेव ने अपने आदि वचन मे कहा—यदि चुनाव मे अनैतिक आचरण है तो उससे फलित होने वाला जनतत्र पवित्र नही हो सकता । अणुव्रत आन्दोलन का लक्ष्य है नैतिकता या चरित्र की प्रतिष्ठा । चुनाव मे भी नैतिकता को वल मिले, इस उद्देश्य से आज की परिषद् आयोजित है । किसी राजनीतिक दल या पक्ष से हमारा सवध न

है। आदि वचन के अनन्तर गुरुदेव ने चुनाव की आचार-सहिता सबके सामने रखी।

चुनाव मुख्यायुक्त श्री सुकुमार सेन ने कहा— मुझे बहुत प्रसन्नता है कि इस परिषद् मे सब राजनैतिक दलो के नेता सम्मिलित हुए है। चुनाव मे हमारे देश के वे आदर्श प्रतिबिम्बित है, जिन्हे हम सदियो से मानते आ रहे है। उन्होने आचार्यजी से निवेदन किया कि मतदाता की आचार-सहिता मे दो व्रत जोडे जाए

१ मै वोट अपने अतरात्मा की आवाज के अनुसार दूगा, देश के लाभ को सोचते हुए दूगा।
२ मै उस उम्मीदवार को वोट नही दूगा, जो उम्मीदवार की आचार-सहिता के लिए कृतसकल्प नही है।

काग्रेस अध्यक्ष श्री ढेबर ने साध्यशुद्धि के साथ साधनशुद्धि मे भी विश्वास व्यक्त किया और विश्वास दिलाया कि हमारा दल इस कार्य मे पूरा सहयोग करेगा। साम्यवादी नेता श्री गोपालन सकल्प की भाषा मे बोले—यदि मै अपनी पार्टी की ओर से चुनाव लडूगा तो इन नियमो के पालन की प्रतिज्ञा करता हू। मेरी पार्टी मे इस आचार-सहिता के प्रतिकूल कोई व्यवहार देखे तो हम उसे रोकने का प्रयत्न करेगे। श्री गोपालन ने सुझाव दिया—चुनाव अधिकारियो के लिए भी आचार-सहिता होनी चाहिए, जैसे—मै चुनाव कार्य मे सचाई व नैतिकता का व्यवहार करूगा।

आचार्य कृपलानी ने आचार-सहिता का स्वागत किया, अपनी ओर से एक सुझाव भी प्रस्तुत किया। उम्मीदवार और मतदाता के लिए जैसे आचार-सहिता है, वैसे ही दल की कार्यकारिणी के सदस्यो तथा मत्रियो के लिए भी आचार-संहिता होनी चाहिए। हम जातीयता व साम्प्रदायिकता के आधार पर टिकट नही देगे तथा चुनाव मे सरकारी साधनो का उपयोग नही करेगे। परिषद् मे प्राप्त सुझावो को जोड़कर आचार-सहिता का समर्थन किया गया।

सत्ता और सपत्ति के प्रति जितना आकर्षण है, उतना नैतिकता के प्रति नही है। इसलिए इस आचार-सहिता का अनुपालन नही हुआ। फिर भी इस प्रयत्न का अपना मूल्य है। धर्म के मच मे जनतंत्र की एक जटिल समस्या का समाधान प्रस्तुत करना अपने आप मे एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

समस्या हिंसा और परिग्रह की

पूज्य गुरुदेव श्री गगाशहर (बीकानेर) विराज रहे थे। प्रधानमत्री इन्दिरा गांधी ने राजीव गांधी को गुरुदेव के पास भेजा। आचार्यश्री ने चिन्तन के प्रसग मे कहा— आप इन्दिराजी को बताएंगे कि केवल समाज व्यवस्था के बदलने से समस्या का समाधान नही होगा और केवल हृदय परिवर्तन से भी समस्या का समाधान नही होगा। समाज व्यवस्था, और हृदय— दोनो के परिवर्तन का प्रयत्न एक साथ चले, तभी परिवर्तन की प्रक्रिया आगे बढ़ सकती है।

एकता का महान् सूत्र

एकता का सबसे बड़ा सूत्र है हृदय परिवर्तन। इसे ध्यान मे रखकर अहिसा प्रशिक्षण की पद्धति का विकास किया गया। इसे विश्वमच पर प्रस्तुत करने के लिए दो अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेस आयोजित की गई। पहली कान्फ्रेस ५ से ७ दिसंबर १९८९ को जैन विश्व भारती, लाडनू मे तथा दूसरी कान्फ्रेस १७ से २१ फरवरी १९९१ को राजसमन्द मे आयोजित हुई। पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी के सान्निध्य मे सपन्न उस गोष्ठी का निष्कर्ष था— अहिसा के क्षेत्र मे काम करने वाली सस्थाओ का संयुक्त राष्ट्रसघ मे एक मंच हो, अपना सयुक्त राष्ट्रसघ हो। अहिंसा के क्षेत्र मे प्रयोग और प्रशिक्षण का विशिष्ट अभिक्रम चले। अहिसा के प्रशिक्षण की इस वार्ता ने विश्व-मानस को बहुत प्रभावित किया।

संघर्ष शाति में बदल गया

पूज्य गुरुदेव एकता के लिए सदा प्रयत्नशील रहे। आपने जैन एकता के लिए पचसूत्री कार्यक्रम का प्रतिपादन किया और उसके लिए अनेक प्रयत्न भी किए। एकता एक लक्ष्य है, संकल्प है। वह कोई आरोपण नहीं है। मेवाड़ की घटना है। एक छोटा-सा गाव। पहाड़ों से घिरा हुआ। वहा बैलगाड़ी का जाना भी मुश्किल होता है। चट्टानी पहाड़ियो को पार कर गुरुदेव वहा पहुचे। दो भाइयो के बीच सघर्ष चल रहा था। गुरुदेव ने बड़े भाई से कहा— तुम इस सघर्ष को समाप्त कर दो। वह बोला— गुरुदेव ! मै आपका भक्त हू। आप कहे तो मे धूप मे खड़ा सूख जाऊगा पर इस सघर्ष को समाप्त नही करूगा। आखिर हृदय-परिवर्तन हुआ और संघर्ष शान्ति मे बदल गया।

इन्दिरा गाधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार समिति ने एकता के प्रयत्न का मूल्याकन किया। अध्यात्म और नैतिकता के क्षेत्र में काम करने वाले लोगो ने अनुभव किया कि इससे नैतिकता को और अधिक बल मिलेगा[1]।

---

1. पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी को 1992 का इन्दिरागाधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार प्रदान किया गया उस सदर्भ मे लिखा गया है प्रस्तुत निबध।

पूज्य की पूजा का व्यतिक्रम न हो

'गाधी को गाली मत दो । गाधी ने मानव कल्याण के लिए बहुत काम किए है । यदि गाधी को छोटा करना है तो बड़ी रेखा खीचो । पहली रेखा अपने आप छोटी हो जाएगी ।' अणुव्रत अनुशास्ता का यह विचार मानव-जाति की एकता की ओर इंगित करता है । आदम युग मे मानव जाति एक थी । उसमे कोई भेदभाव नही था । जैसे-जैसे सत्ता, धन और बुद्धि का अहकार बढ़ा, वैसे-वैसे मानव जाति विभक्त होती गई । ऊंच-नीच और छुआछूत का भेद आ गया । मानव-जाति के विभक्तीकरण की प्रक्रिया शुरू हो गई । सहस्राब्दियो तक यह क्रम चला और इसे धर्मग्रन्थों का समर्थन मिलने लगा । श्रमण परपरा के आचार्यो ने इस समस्या को गंभीरता से अनुभव किया ।

एक है मनुष्य जाति

ढाई हजार वर्ष पहले महावीर ने कहा— 'एक्का मणुस्स जाई'— मनुष्य जाति एक है । उस समय भारतीय तत्व चिन्तन की दो धाराएं चल रही थी— श्रमण धारा और ब्राह्मण धारा । ब्राह्मण धारा जन्मना जाति का समर्थन कर रही थी । महावीर और बुद्ध श्रमण परपरा के प्रवचनकार थे । उन्होने कर्मणा जाति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । श्वपाक पुत्र हरिकेश बल महावीर के शासन मे दीक्षित थे । उनके एक घटनाप्रसंग को लेकर कहा गया— तपस्या की विशेषता है, जाति की कोई विशेषता नही है ।यदि कर्मणा जाति की अवधारणा चालू रहती तो न छुआछूत की भावना पनपती, न जातिवाद का उन्माद होता और न भारतीय समाज टूटता । उच्च या अभिजात वर्ग के अहंकार ने जन्मना जाति की अवधारणा को सपुष्ट किया । उसी की प्रतिक्रिया विशुद्ध भारतीय धरातल पर [illegible] माना जा सकता है कि श्रमण परंपरा का जन्मना जाति के विरोध में उठा स्वर वर्तमान युग मे फिर शक्तिशाली हो रहा है । यदि वह स्वर राजनीति की संप्रेरणा से संप्रेरित है तो उसकी प्रतिक्रिया सामयिक हो सकती है । मानवीय हित की शाश्वत धारा मे उसका [illegible] नहीं [illegible] जा सकता ।

[illegible]

के स्तर पर कभी सुलझा नही सकता। मत और अधिकार पाने के लिए जातियो का जो समीकरण होता है, वह मानव की एकता को तोड़ सकता है, जोड़ नही सकता। धर्मशास्त्रो के आधार पर मानवीय एकता की स्थापना का प्रश्न सरल नही है। इस जातिप्रथा की समस्या को सामाजिक स्तर पर ही सुलझाया जा सकता है।

दैशिक और कालिक व्यवस्था

वर्णाश्रम व्यवस्था और जाति व्यवस्था—दोनों सामाजिक है। इनसे धर्म और धर्मशास्त्र का कोई सबध नही है। धर्म सार्वभौम नियमो से जुड़ा हुआ है। वर्णाश्रम और जाति की व्यवस्था दैशिक और कालिक है। सब देशो मे वह समान नही होती। इस दैशिक और कालिक व्यवस्था को सार्वभौम रूप देने के कारण ही वर्तमान समाज-व्यवस्था मे उलझने पैदा हुई। वर्तमान समाज-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था मे वर्णाश्रम व्यवस्था उपयोगी नही है। जाति-व्यवस्था भी सार्थक नही है। अब जो जाति व्यवस्था है, वह जाति का ध्वसावशेष मात्र है।

अतात्विक है जातिवाद

महावीर और बुद्ध ने जातिवाद के विरोध मे आवाज उठाई, उसका आधार समतावाद था। महावीर ने प्राणिमात्र मे आत्मा की समानता को तात्विक बतलाया। उनकी दृष्टि मे जातिवाद अतात्विक था। महावीर और बुद्ध का जातिवाद के विरोध मे उठा स्वर लुप्त नही हुआ, उसके प्रकप्न निरतर काम करते रहे। विचार विनष्ट नही होता। वह आकाशिक रिकार्ड मे जमा रहता है। उसके प्रकपन विभिन्न व्यक्तियो के मस्तिष्क को प्रकपित करते रहते है। ढाई हजार वर्ष की लम्बी अवधि मे अनेक सत और समाज सुधारक हुए, जिन्होने जातिवाद का विरोध किया। यह स्वीकार करना इतिहास के प्रति अन्याय नही है।

प्रगाढ संस्कार

मनु ने समाज को व्यवस्था दी। स्मृतिग्रन्थो मे सामाजिक व्यवस्था का विशद विवरण उपलब्ध है। जैन और बौद्ध साहित्य मे समाज-व्यवस्था का निरूपण नही है। जाति व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था का ही एक अग है। जैन आचार्यो ने समाज-व्यवस्था के परिवर्तनशील नियमो को शाश्वत नही माना। उनकी दृष्टि मे जाति व्यवस्था भी सामयिक है, शाश्वत नहीं है। समाज की वर्तमान अपेक्षाओ पर अतीत का बोझ लादने का अर्थ कभी सुखद नहीं होता। हिन्दू समाज के अनेक आचार्यो ने जातिवाद और वर्ण व्यवस्था को तात्विक रूप मे स्वीकार किया। फलस्वरूप अमुक-अमुक जातियो को निम्न और अछूत मानने की धारणा बद्धमूल हो गई। सस्कार इतना प्रगाढ बन गया कि बहुत सारे शिक्षित व्यक्ति भी इस धारणा से ग्रस्त है।

राजनीतिक हितो से ऊपर उठे

शिक्षा और आर्थिक विकास ने निम्न कहलाने वाले वर्ग में प्रतिक्रिया को जन्म दिया और उसे अस्वाभाविक नही कहा जा सकता। उस प्रतिक्रियात्मक वातावरण मे हिन्दू समाज की एकता सुरक्षित रखने के लिए महात्मा गाधी ने अभिनव प्रयत्न शुरू किए। उन्होने महावीर और बुद्ध की परंपरा को आगे बढ़ाया। निम्न वर्ग के लिए सामाजिक समानता की भूमिका तैयार की। जातीय घृणा और छुआछूत को दूर करने के अनेक सकल्प और प्रारूप प्रस्तुत किए। इस प्रयोग श्रृखला की एक कड़ी है 'हरिजन' शब्द का पुनरुच्चार। महात्मा गांधी से पहले भक्त के लिए हरिजन शब्द का प्रयोग सतो ने किया, वह निम्न वर्ग के प्रयोग मे आने लगा। हम जाति व्यवस्था को स्वीकार नही करते, इसलिए हमारी दृष्टि मे कोई भी जाति उच्च या निम्न नही है। किन्तु जिस समाज-व्यवस्था मे उच्च और निम्न की कल्पना है, उसमें उच्च और निम्न शब्दो का व्यवहार भी है। इस व्यवहार को बदलने के लिए वाचक शब्दो को बदलना भी जरूरी लगा और वैसा किया। हमारी दृष्टि मे समाज को विभक्त करने वाला कोई भी शब्द समानता की भूमिका को पुष्ट नही करता। वह दो जातियो अथवा वर्गो मे भेदरेखा खीचता है। जाति और वर्ग की मानसिकता जड़ जमाए हुए है। उसे एक झटके मे उखाड़ देना सभव नही रहा। अनेक युगो मे अनेक प्रयत्न हुए है। अनेक महापुरुषो ने उनकी जड़ों पर मृदु या कठोर प्रहार किए है। उन प्रयत्न करने वालो मे महात्मा गाधी एक है। राजनीतिक हितो से ऊपर उठकर ही यथार्थ को देखा जा सकता है। राजनीति, चुनाव और सत्ता— राष्ट्रीय विकास और प्रगति के लिए केवल यह त्रिकोण ही पर्याप्त नही है। उसके लिए त्याग, संयम, नैतिकता और चरित्र का चतुष्कोण भी जरूरी है। पूज्य की पूजा का व्यतिक्रम नही होना चाहिए।

समीचीन बने धन के प्रति दृष्टिकोण

प्रत्येक आदमी सुख से जीना चाहता है। सुख का साधन है सुविधा। सुविधा का साधन है अर्थ। अर्थ के प्रति बहुत आकर्षण है। वह इसलिए है कि अर्थ से जो सुविधा की सामग्री चाहिए, वह मिल जाती है। सुविधा के प्रति आकर्षण इसलिए है कि उससे सुख का अनुभव होता है। शिखर की सच्चाई यह है कि अर्थ के प्रति आकर्षण बहुत है। तलहटी की सच्चाई यह है कि सुख के प्रति बहुत आकर्षण है।

आर्थिक स्पर्धा का युग

अर्थ के अभाव मे जीवन की आवश्यकताएं ठीक पूरी नही होती। भोजन, मकान, कपड़े, शिक्षा और चिकित्सा—इन सबकी सम्यक् पूर्ति आर्थिक विकास के द्वारा ही हो सकती है। आर्थिक स्पर्धा का युग है। उसका प्रवर्तन सुविधावाद ने किया है। एक व्यक्ति के पास अर्थ है, उसका लड़का अच्छे स्कूल मे पढ़ सकता है। दूसरे व्यक्ति के पास इतना अर्थ नही है कि वह अपने लड़के के लिए शिक्षा की अच्छी व्यवस्था कर सके। चिकित्सा के क्षेत्र मे भी यही समस्या है। इस समस्या की भूमि मे ही आर्थिक स्पर्धा के बीज अकुरित होते है।

आर्थिक विकास का नियम आर्थिक स्पर्धा को मुक्त आकाश देता है। अधिक इच्छा, अधिक स्पर्धा और अधिक उत्पादन आर्थिक विकास के मुख्य स्रोत है। अभाव या गरीबी की समस्या से निपटने के लिए इनका होना अति आवश्यक है।

अपरिग्रह का सिद्धात है— इच्छा का सयम, स्पर्धा पर नियंत्रण। क्या यह सिद्धात गर्रीबी की ओर ले जाने वाला नही है? समाज के पिछड़ेपन को बनाए रखने का हेतु नही है? अर्थशास्त्र और अपरिग्रह के सिद्धान्तों और नियमो मे प्रत्यक्ष विरोधाभास है। अर्थशास्त्र के नियम सामाजिक विकास की कल्पना से जुड़े हुए है। अपरिग्रह के नियम अन्तर्जगत् के विकास की कल्पना से जुड़े हुए है। आजीविका, शिक्षा और चिकित्सा की सम्यक् व्यवस्था के बिना आतरिक विकास का सिद्धात कितना व्यावहारिक हो सकता है, यह जटिल प्रश्न है। इसका उत्तर खोजे बिना अपरिग्रह के प्रति वह आकर्षण पैदा नहीं किया जा सकता, जो आकर्षण अर्थ के प्रति है।

खतरा है अतिवाद से

अर्थ सुविधा और सुख का साधन है इसलिए उसका आकर्षण कभी कम नही होता। अपरिग्रह के सिद्धात से उसको कोई खतरा नही है। उसे खतरा है अपने अतिवाद से। वह अतिवाद ही अपरिग्रह के सिद्धात को समाने की एक सशक्त प्रेरणा है। सग्रह अर्थ के प्रति होने वाले अति आकर्षण का परिणाम है। सुविधा और सुख के लिए जितना चाहिए उतने अर्थ का सग्रह मनुष्य करता है तो आर्थिक सग्रह की प्रतिक्रिया हिसा के रूप मे नही होती है। कुछ लोग सामाजिक सपदा का अर्थहीन और अनावश्यक उपयोग करते है। कुछ लोग जीवन की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए भी उसका उपयोग नही कर पाते। यह स्थिति अतिसग्रह से उपजती है।

अर्थ का मूल स्रोत

एक ज्वलत प्रश्न है अर्जित राशि का उपयोग कैसे करे ? अर्थ का अर्जन व्यक्ति अपने श्रम से करता है, इसलिए उसका उपयोग अपने लिए ही करे, यह एक पहलू है। इसका दूसरा पहलू यह है कि अर्थ का मूलस्रोत समाज है, इसलिए उसका उपयोग समाज के लिए होना आवश्यक है। कितना अपने लिए और कितना समाज के लिए, इसका कोई सर्वसम्मत मानदण्ड नही बन पाया है फिर भी वास्तविकता से आख मिचौनी नही करनी चाहिए। अर्जित अर्थ का उपयोग केवल अपने लिए ही हो, यह अति स्वार्थ है, सामाजिक न्याय का अतिक्रमण है। सामाजिक श्रम से अर्थ का अर्जन करे और उसका उपभोग केवल अकेला करे। अर्थ का यह सबसे अधिक अधकारमय पक्ष है उपभोग का सामाजिक न्याय है— सविभाग-बाट-बाट का खाना। यह सिद्धान्त किसी धर्म, कर्म से जुड़ा हुआ नही है। इसका मूल उत्स है, सामाजिक न्याय।

बड़प्पन का काल्पनिक मानदण्ड

वर्तमान विश्व मे अनेक उद्योगपति अथवा धनपति ऐसे है, जो अर्थ का प्रचुर मात्रा मे अर्जन करते है, उसका व्यक्तिगत उपयोग एक निश्चित सीमा मे करते है, शेष अर्थ का उपयोग समाज कल्याण के लिए करते है। यह सामाजिक न्याय है। इस स्थिति मे अर्थ का सग्रह प्रतिक्रियात्मक हिसा को जन्म नही देता।

समाज मे प्रतिक्रियात्मक हिसा अधिक हो रही है। उसका हेतु है बड़प्पन का काल्पनिक मानदड। जिसके पास प्रचुर धन है वह उसका प्रदर्शन करता है, अपव्यय करता है। मैने सुना— एक महिला ने विवाह के अवसर पर एक करोड़ की पोशाक पहनी। [illegible] — दुनिया की सबसे महगी पोशाक आठ करोड़ की है। एक विवाह [illegible] [illegible] या उनसे भी अधिक रुपयो का व्यय, एक [illegible] मे [illegible] करोड़ से [illegible] करोड़ तक का व्यय। यह है सग्रह का दुरुपयोग। इससे प्रतिक्रियात्मक [illegible] [illegible]।

विमर्शनीय विषय

प्राचीन चिन्तको ने धन की तीन अवस्थाए बतलाई—भोग, दान और नाश। नाश अंतिम अवस्था है। एक अवधि के बाद वह निश्चित रूप से घटित होता है। वह विमर्श का विषय नही है। विमर्शनीय विषय दो है— भोग और दान। अर्थ के उपयोग का प्रश्न इन दोनो से जुड़ा हुआ है। व्यक्तिगत भोग के लिए अर्थ का उपयोग एक सीमा तक समाज को मान्य है। उसका अतिरिक्त उपयोग सामाजिक न्याय के विरुद्ध है और हिसा को बढ़ाने वाला है। चोरी, डकैती, अपराध और आतक भोग की अति आसक्ति में खोजे जा सकते है। समाज का एक व्यक्ति अतिरिक्त सुख, अतिरिक्त सुविधा और अर्थ चाहता है तो दूसरा भी चाहता है और तीसरा भी चाहता है। यह चाह संक्रामक बनकर पूरे समाज को रुग्ण बना देती है। यदि हम समाज को स्वस्थ रखना चाहते है तो सपन्न व्यक्ति को भी भोग की एक सीमा अवश्य निश्चित करनी चाहिए।

दान की भाषा बदले

अर्जित विशाल धनराशि का उपयोग अपने लिए अतिमात्र न हो, इस अवस्था मे उसके उपयोग का दूसरा विकल्प है दान। दान का अर्थ बदलना होगा, उसकी भाषा भी बदलनी होगी। भिखारीपन को बढ़ावा देने वाला दान आज समाज-सम्मत नहीं है, कृपा और अनुग्रह पूर्वक दिया जाने वाला दान भी अहकार और हीन भावना की मनोवृत्ति को जन्म देता है। वह भी समाज के लिए हितकर नही है। दान को आज सामाजिक सहयोग और सविभाग के रूप मे परिभाषित करना जरूरी है। पैसे को बचाने के लिए मनुष्य के पास असीम अवधारणाए है और असीम तर्क है इसलिए वह सहसा पैसे को छोड़ना नही चाहता। अधिकाश लोगो के धन की तीसरी गति होती है।

धन के प्रति हर व्यक्ति और समाज का दृष्टिकोण समीचीन बने, यह वर्तमान की समस्या का समाधान है।

सापेक्षता के कोण

मुक्ति कहे या स्वतत्रता एक ही बात है। मुक्ति का अर्थ है बधन से छुटकारा पाना। मुक्ति का यह चितन व्यावहारिक बनकर समाज मे भी आया। स्वतत्र समाज की कल्पना, व्यक्ति-स्वातत्र्य की भावना का मूल यही मुक्ति की विचारधारा है।

मुक्ति की प्रक्रिया

मुक्ति की प्रक्रिया क्या है ? इसके बारे में तीन मार्ग बताये गये है— सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र। सर्वप्रथम दृष्टि की स्पष्टता अपेक्षित है। दर्शन के द्वारा दृष्टि साफ होने पर ही सम्यक् ज्ञान हो पाता है। ज्ञान दर्शन से पहले नही होता। दुनिया मे ऐसा कोई पदार्थ नही हो सकता, जिसे देखे बिना ही जान लिया गया हो। हम उतना ही जानते है जितना देखते है। जो सुना है उसे किसी ने देखा है, उसी के शब्दो के सहारे हम जान पाते है। सामने चित्र है, उसे देखकर ही मै उसका ज्ञान करता हू, जब तक उसे देख नही लेता, ज्ञान नही होता।

समन्विति है योग

दर्शन के बाद ज्ञान होता है। देखना, जानना और फिर उसे क्रिया मे लाना— इन तीनो की समन्विति का नाम योग है। जैन-दर्शन ने समन्वय के विचारो का प्रतिपादन किया, क्योंकि वह एकागी दृष्टि से नही देखता। उसकी दृष्टि है अनेकान्त। अनेकान्त दृष्टि का अर्थ है प्रत्येक वस्तु को अनन्त दृष्टिकोणो से देखना। जब तक देखने के पहलू भिन्न नही होते तब तक सत्य को नही पाया जा सकता। मनोविज्ञान इसीलिए मन को विभिन्न पहलुओ से देखता और विश्लेषण करता है। एक ही मकान को यदि व्यक्ति सामने से देखे तो उसे एक दृश्य दिखेगा, बगल से, आगे-पीछे से और भिन्न-भिन्न कोणो से देखने पर उसी मकान के विभिन्न रूप दीखेगे। एक ही व्यक्ति का चित्र विभिन्न कोणो से [illegible] विभिन्न होता है। एकांगीदृष्टि से पूर्ण जानकारी नही हो पाती और हमारी दृष्टि [illegible] हो सकती है।

[illegible]

दृष्टियो से देखना। नैयायिक और वैशेषिक दर्शन ने भी माना है कि वस्तु मे अनेक धर्म होते है। जैन-दर्शन उससे सहमत है किन्तु पूर्णतः नही, क्योकि एक वस्तु मे केवल अनन्त धर्म ही नहीं होते अपितु विरोधी युगलात्मक अनन्त धर्म होते है, जैसे नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, सत्-असत् आदि। यह कितनी विरोधी बात लगती है, एक ही वस्तु ठडी भी है और गर्म भी, प्रकाश भी है और अंधकार भी। एक ही आदमी अच्छा भी है और बुरा भी। हर प्रकृति में यह विरोधी बात मिलती है। उदाहरण के लिए एक डाकू को लिया जा सकता है। डाकू क्रूर और हत्यारा होता है परन्तु अपने बच्चे के प्रति दयालु भी होता है। वह अधार्मिक होता है और डाका डालता है लेकिन डाका डालने से पहले अपनी इष्टदेवी की पूजा भी करता है। इसीलिए कहा गया— वस्तु मे अनन्त विरोधी युगलात्मक धर्म होते है। जीवन में असामंजस्य, विसंगतियां और उतार-चढ़ाव है। ये विरोधी धर्म अलग-अलग नही होते, एक ही व्यक्ति मे होते है। इसे स्वीकार करने की दृष्टि ही है अनेकान्त। इस अनेकात का ही फलित है सह-अस्तित्व।

अपेक्षा दृष्टि

सह-अस्तित्व की बात आज तो विभिन्न क्षेत्रों मे चल रही है। समाजनीति और राजनीति मे भी इसकी चर्चा है और साम्यवादी विचारधारा मे भी सह-अस्तित्व का अस्तित्व है। साम्यवादी विचारधारा मे भी स्याद्वाद का विचार फलित हुआ।

एक राजा की लड़की की कहानी है। उस लड़की ने अपने पिता से हठ किया कि रेखला नामक लड़के को मारना ही होगा। यदि वह जीवित रहा तो मै मरूगी क्योकि हम दोनों एक साथ नही जी सकते। या तो वह जीयेगा या मै जीवित रहूगी। यह आग्रही और एकांगी मनोवृत्ति है। अनेकात इसे गलत मानता है। ठड और गर्मी दोनो सापेक्ष है। अपेक्षा से देखे तो एक ही वस्तु मे विरोधी बात समझ मे आ जाती है। हमारा सारा प्रतिपादन सापेक्षता के आधार पर होता है। जैन-दर्शन पर उसके लिए काफी प्रहार भी किये गये किन्तु आईन्स्टीन के बाद तो सापेक्षवाद की बात स्वीकार कर ली गई है। एक अंगुली का उदाहरण ले। वह अपेक्षा की दृष्टि से दूसरी अगुली से बड़ी है तो तीसरी से छोटी भी। छोटापन और बड़प्पन— दोनों इसी मे विद्यमान है।

सापेक्षता का निदर्शन

सापेक्षवाद के बिना सत्य की दृष्टि नही आती, अनाग्रह नही पनपता। आईन्स्टीन की पत्नी ने कहा— "मुझे सापेक्षवाद समझाओ क्योकि मेरी समझ मे नही आ रहा है।" आईन्स्टीन ने उसे समझाते हुए कहा— "एक व्यक्ति अपनी प्रेयसी के साथ बात करता है तो घटा पाच मिनट के समान लगता है किन्तु वही व्यक्ति जब चूल्हे की आच के सामने बैठता है तो उसे पाच मिनट का समय घटाभर से भी ज्यादा लगने लगता है।" पुराने जमाने की बात ले। भोज के दरबार मे चर्चा चली—कालिदास हर समस्या को श्रृगार

मे वदल देते है । परीक्षा के लिए उपनिषद् की एक समस्या दी गई—

'अणोरणीयान् महतो महीयान् ।'

कालिदास ने समस्यापूर्ति करने हेतु तुरंत श्लोक बना दिया—

यज्ञोपवीत परम पवित्रं, करेण धृत्वा शपथं करोमि ।
योगे वियोगे दिवसोगनाया., अणोरणीयान् महतोमहीयान् ।।

—'यह परम पवित्र जनेऊ हाथ में लेकर सौगन्ध खाते हुए कहता हू कि जब पत्नी का योग होता है तो दिन छोटा और वियोग में बड़ा लगता है ।' आईन्स्टीन और कालिदास मे काल का लम्बा अन्तर होने पर भी उनका उत्तर एक ही है । सत्य का प्रवाह सदा एक प्रकार का चलता जाता है ।

सापेक्षता का हृदय

जैनदृष्टि से इस पर विचार करते हुए सापेक्षवाद को कैसे समझे ? सबसे पहले स्थूल रूप से एक वस्तु का विचार करना चाहिए । दूध का उदाहरण ले । एक व्यक्ति ने सकल्प किया कि मै दूध के सिवाय कुछ नही खाऊंगा । वह व्यक्ति दही नही खा सकता और दही के सिवाय कुछ नही खाने वाला दूध नही पी सकता है । गोरस नही खाने वाला दूध, दही, घी, छाछ कुछ भी नही खा सकता क्योकि ये गोरस के रूप है । दही ओर दूध दोनो मे गोरस है, यह सापेक्ष-दृष्टि है । किसी को शत्रु अथवा मित्र मानना अज्ञान-दृष्टि है । आचार्य पूज्यपाद ने बहुत सुदर लिखा है— "तुम कहते हो वह मेरा शत्रु है, तो क्या तुम उसे सर्वाशत जानते हो ? केवल शरीर और ऊपर की स्थिति को जानते हो । तुम जानते ही नही तब कोई तुम्हारा शत्रु या मित्र कैसे होगा और जान लेने पर वह न तुम्हारा शत्रु होगा, न मित्र ।" यह सापेक्ष-दृष्टि है, जिससे देखने का क्रम बदल जाता है ।

व्यवहार दृष्टि : निश्चय दृष्टि

मेरे हाथ मे कपड़ा है जिसे आप सफेद कहेंगे किन्तु यह व्यवहार-दृष्टि से कथन है । निश्चय की दृष्टि से इसमे सारे रग विद्यमान है । रेत मे भी मिठास का अश होता है, पर पढ़कर अटपटा लगता है, किन्तु अलकतरे से भी जब मिठास निकल सकती है तो इसमें क्या कठिन है ।

स्याद्वाद और अनेकान्त से ही सह-अस्तित्व, सापेक्षता और स्वतन्त्रता का विकास [illegible] । स्याद्वाद के विषय मे उत्तरवर्ती साहित्य बहुत लिखा गया है । अनेकान्त सिद्धान्त [illegible] और स्याद्वाद है कथन की पद्धति और प्रकार । तीन पद्धतियो का विकास [illegible] स्याद्वाद और दुर्नयवाद । समग्र वस्तु जानना है या उसका एक पहलू— [illegible] । वस्तु को हम समग्रता से जान नहीं पाते । [illegible] [illegible] जानते है ? [illegible]

है ? पांच इंद्रिया आपके पास है। आपने रोटी को आख से देखकर जाना, अंधेरे मे स्वाद से जाना, स्पर्श से जाना, रोटी तोड़कर शब्द से जाना और सूघकर भी जान लिया। किन्तु फिर भी रोटी के एक पर्याय को जाना है, समग्रता से नही। उसमे ठंड, गर्म, स्टार्च आदि कितना क्या है,यह जानना तो वहुत वाकी है ।

सापेक्षता की नीति

हमारा ज्ञान जब विकसित होता है तव हम इन्द्रियो का ज्ञान विकसित कर लेते है लेकिन प्रथम बार हम एक इन्द्रिय से वस्तु के पर्याय को जानते है, समग्र वस्तु को नही जान सकते। वस्तु के एक धर्म का विश्लेषण कर अन्य को गौण कर देते है। आचार्य अमृतचद्र ने लिखा है— एक ग्वालन दोनों हाथो से बिलौना करती है। एक हाथ आगे ले जाती है, फिर दूसरा पीछे लाती है। इस प्रकार आगे-पीछे का क्रम चलता है तब मक्खन मिलता है।'' यही सापेक्षता की नीति है। एक वस्तु का धर्म सामने आ जाता है, दूसरा गौण कर देते है। एक को गौण करना, दूसरे को आगे ला देना; एक को आगे लाना. दूसरे को पीछे कर देना, यह है सापेक्षता का दृष्टिकोण।

दुनिया मे ऐसा कोई वस्तु-धर्म नही, जिसके द्वारा सामंजस्य नही बैठाया जा सके। सापेक्षवाद प्रस्तुत वातावरण के लिए ज्यादा अनुकूल है। बिना सापेक्षवाद के नाम से ही अपने आप यह विकसित होता जा रहा है।

अध्यात्म की सूई : मानवता का धागा

रहा हूं— लगभग दो घंटे हो गये, अनेक वाहन, व्यक्ति और सवारियां एक ही
से गुजर रहे है। इसी प्रकार एक ही बात कहनी है किन्तु शब्द और कहने वाले
है। एकता-अनेकता का विचित्र सयोग है। पानी के लिये शब्द अनेक है किन्तु
क ही है। पानी प्यास बुझा देगा, उसका शब्द के साथ प्रतिबंध नही है; क्योंकि
का शब्द के साथ प्रतिबंध नही है; वह भाषा के साथ बंधा हुआ नही है।

भूमि पर चलने का हमारा सम्बन्ध है किन्तु उसके साथ तन्मयता और तादात्म्य
चाहिए। भूमि की विशालता पैर नाप सकते है, वाहन नहीं, क्योंकि वाहनो के द्वारा
भूमि से तादात्म्य और एकत्व नहीं। वाहनों मे तादात्म्य की अनुभूति नही होती।
श की विशालता पक्षी ही अपने पखों से नाप सकते है, हवाई जहाज़ मे बैठा मनुष्य
इसी प्रकार जिसके हृदय में मानवता का बीज अकुरित हुआ है, वही मनुष्य की
ता विशालता को समझ सकता है। जिसके हृदय मे मनुष्यता का बीज ही नहीं पनपा,
से नही नाप सकता।

बड़ा कौन ?

एक बार देवताओ मे प्रश्न उठा कि विश्व मे सबसे बड़ा कौन ? एक ने कहा—
बड़ी है तो दूसरे ने कहा— पृथ्वी से तीन गुणा बड़ा समुद्र है। एक देवता ने कहा—
से बड़े तो अगस्त्य ऋषि है, जिन्होने समुद्र का चुल्लु से ही पान कर लिया था।
देव ने कहा आकाश बड़ा है क्योंकि सारे विश्व पर वह आच्छादित है। एक देव
भगवान् सबसे बड़े है जिनका अस्तित्व कण-कण में है। अन्त में बहुत देर से
[illegible] देव ने कहा भक्त सबसे बड़ा है जो अपने हृदय में भगवान् को बैठा
है।

[illegible] मनुष्य महान् है। मस्तिष्क छोटा और शरीर लघु होते हुए भी उसकी
[illegible], प्रवहमान है। मनुष्य है तभी धर्म, दर्शन और भगवान् है, अन्यथा
[illegible]। हमारी कठिनाई है कि हम मनुष्य को पहचानते नही, पहचानना भी नही
[illegible] बिना आदमी धार्मिक बन भी नहीं सकता। मनुष्य और मनुष्य
[illegible] का धागा टूट गया। बल्ब से प्रकाश आ रहा है किन्तु

वह प्रकाश बल्ब का नही, तार द्वारा पावर हाउस से आ रहा है। यदि तार का बल्ब से सबंध टूट जाए तो बल्ब का प्रकाश समाप्त हो जाएगा। इसी प्रकार मनुष्यता का तार छूटने से मनुष्य क्रूर हो जाता है। आदमी का आदमी से सम्बन्ध धर्म के विना नहीं हो पाता है।

धार्मिक की दयनीय स्थिति

लोगों ने नाम रटना, मंदिर, सत-दर्शनो तक ही धर्म को सीमित कर दिया। इन बाह्य उपासनाओ और क्रियाकाडो मे ही धर्म की इतिश्री मानकर बैठ गये। भले ही वे क्रूरता, धोखेबाजी, ईर्ष्या, अन्याय करते हो किन्तु माला जपकर, मंदिर जाकर, आरती और पूजा कर वे धार्मिक वन जाते है। आज के धार्मिक की स्थिति दयनीय है। वह धार्मिक बनता है किन्तु क्रूरता भी करता है। क्या धार्मिकता और क्रूरता एक साथ टिक सकती है ? धर्म से मोक्ष, स्वर्ग, धन, परिवार आदि मिलता है— यह लालच लोगो मे है किन्तु इसे भी वे बिना किसी परिश्रम, त्याग एवं बलिदान के ही प्राप्त करना चाहते है। केवल पैसो से ही धर्म खरीदना चाहते है। आराम का आराम और केवल थोड़ा सा राम नाम। बस इतना ही पर्याप्त समझकर सब कुछ पाना चाहते है किन्तु यह सम्भव नही है। जब तक हम अपने संकीर्ण विचारों से ऊपर उठकर सही चितन नही करेगे तब तक धर्म को नही पा सकेगे।

मनुष्यता का सूत्र

एक पागल था। उसे यदि कोई पीछे से मुक्का मारता तो बिना कुछ सोचे-समझे अपने से आगे चलने वाले को वह भी मुक्का मार देता। वह यह नही सोचता कि मुझे किसने मुक्का मारा है। वह तो यही जानता है कि उसे मुक्का मारा गया है इसलिए वह भी दूसरे को मुक्का मारेगा। आज के धार्मिक भी इसी प्रकार बिना सोचे-समझे क्रिया कर रहे है। अतीत और वर्तमान, दाए-बाए, ऊपर-नीचे देखकर चतुर्दिक विचारो को जाने बिना हम सत्य को नही पा सकते।

हम आगे बढ़ने की कामना करते है किन्तु एक को ठुकराकर दूसरा आगे नही बढ़ सकता। दूसरो के सत्य को भी जानना और समझना जरूरी है। समानता और समता का वातावरण पैदा करना होगा। आज केवल पाप-पुण्य के नाम पर विसगति नही चल सकती। 'बुराइया ज्यादा नही चल सकती', इस सत्य को अनुभव करना होगा अन्यथा हिसा को रोकना कठिन होगा। व्यक्ति अपने अदर मानवता के सूत्र को कायम रखते हुए स्वार्थो को सीमित बनाए। मनुष्यता का सूत्र जब तक है तभी तक मनुष्य मनुष्य है।

समस्या का पत्थर : अध्यात्म की छेनी

'वर्षातपाभ्याम् कि व्योमून' चर्मण्यस्ति तयोः फलम् ।'

बम्बई जैसी मूसलाधार वर्षा होती है और कभी राजस्थान जैसी चिलचिलाती धूप, आकाश वर्षा मे गीला नही होता, धूप मे गर्म नहीं होता और सर्दी में ठिठुरकर नही ओढ़ता । क्योकि आकाश वर्षा, सर्दी, गर्मी से अतीत है । उस पर इनका व नहीं होता, जबकि हमारी चमड़ी पर इनका असर होता है ।

समस्याए आकाश की तरह बनने पर ही मिट सकती है, मिटाई जा सकती है, नु यदि हम केवल चर्ममय रह जाएगे तो समस्याएं कभी नहीं सुलझने वाली है । नकाल बीत गया किन्तु किन्तु समस्याओ का कभी अन्त हुआ हो ऐसा नही दिखाई । जब तक मनुष्य है, उसके पास चिन्तन और विचार है तब तक समस्याएं रहेगी । व्यक्ति गहरी निद्रा मे सो जाए, चिन्तन वन्द हो जाए और प्रलय जैसा ही कुछ हो न सम्भव है समस्या नही रहे अन्यथा समस्या रहेगी ।

समस्या है एकांगीपन

भगवान ने कहा—

> "जे अज्झत्थ जाणई, से बहि्या जाणई ।
> जे बहिया जाणई, स अज्झत्थ जाणई ॥"

धार्मिक की समस्या

'जो अध्यात्म को जानता है वह बाहर को जानता है,' धार्मिको ने इसे पकड़कर सोच लिया कि धर्म से धन, रोटी, पुत्र, सुख-वैभव सब कुछ प्राप्त हो जायेगा। धर्म के द्वारा इन सभी समस्याओ को सुलझाना कठिन होगा। प्यास पानी पीने से मिटेगी, भूख रोटी खाने से शान्त होगी और पैसा पुरुषार्थ से प्राप्त होगा। समस्याओ के सुलझाने में यर्थाथदृष्टि होनी चाहिए।

व्यवहार जगत् की समस्या

दूसरी ओर व्यवहार को पकड़नेवाले व्यक्ति सभी समस्याओ को सुलझाने मे केवल व्यवहार को ही उपयोगी मानते है। वे धर्म और अध्यात्म को अनुपयोगी कहते हैं, अनावश्यक समझते है। अर्थशास्त्री भौतिक सामग्री के उत्पादन पर बल देते है किन्तु क्या मनुष्यों के सामने केवल भूख, प्यास, कपड़े आदि की ही समस्या है ? क्या इससे भी अतिरिक्त मन की सबसे बड़ी समस्या उनके सामने नहीं है ?

समस्या का मूल कहां है ?

समस्या बाहर से आती है किन्तु उसका मूल कहा है ? प्रयाग मे त्रिवेणी है, किन्तु उसका मूल स्रोत कैलाश है। हमारी समस्याएं भी बाहर के विस्तार से आ रही है किन्तु उनका मूल हमारे मन मे है। ९५ प्रतिशत समस्याए हमारे मन से उत्पन्न होती है। जटिल और मूल समस्या है मन की। घर मे धन-दौलत, पुत्र, परिवार, स्वास्थ्य सब कुछ होते हुए भी कलह है, भाई-भाई में झगड़ा है, पिता पुत्र लड़ते है और कही भी शान्ति नही। जहा सम्पन्नता ज़्यादा है वहा झगड़े और अशान्ति भी अधिक है। अभाव मे इतने झगड़े और कलह नही दीखते, क्योकि जिसके लिए झगड़े होते है वह वहा है ही नही। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि समस्या भौतिक पदार्थो की ही नही, मन की भी है।

आवेग से जुड़ी हैं समस्याएं

क्रोध, लोभ, भय, मोह, वासना, घृणा, इर्ष्या, शोक आदि मन के ये आवेग जब तक जीवित है तब तक समस्या सुलझने वाली नही, चाहे समाजवाद आए या साम्यवाद। कोई भी वाद इन समस्याओ को सुलझा नही सकता। मार्क्स ने राज्यविहीन शासन-पद्धति की कल्पना की थी। जैन-शास्त्रों मे 'अह इन्द्र' देवताओ की भी ऐसी ही चर्चा आती है जहा कोई स्वामी और सेवक नही होता। सब स्वय में इन्द्र होते है। परन्तु उनके क्रोध, अभिमान, माया और लोभ उपशान्त होते है इसीलिए वे स्वामी-सेवक-विहीन स्थिति मे पलते है। मार्क्स की राज्य-विहीन समाज की कल्पना अच्छी थी किन्तु वह इसलिए सफल नही हो सकी, क्योकि उनका समाज क्रोध, मान, माया, लोभ की प्रचुरता वाला समाज है। वहा राज्य-विहीन समाज की अपेक्षा अधिनायकवादी समाज विकसित हुआ है।

राज्यविहीन समाज की रचना के मूल में अध्यात्म की भूमिका आवश्यक थी। लोकतत्र की असफलता का कारण भी है अध्यात्म की भूमिका का अभाव।

अरस्तु की पत्नी बहुत क्रोधी थी। एक दिन अरस्तु बाहर से घर आए तो वह बिगड़ उठी। पहले तो क्रोध मे आकर गालिया देने लगी किन्तु जब अरस्तु ने वापस जवाब नहीं दिया तो उसने पानी-भरी बाल्टी अरस्तु के सिर पर डाल दी। अरस्तु ने शान्ति से जवाब दिया— 'क्या सुन्दर क्रम है! पहले गर्जन और फिर बरसात।' पत्नी का क्रोध हॅसी मे वह गया।

इस दृष्टान्त से स्पष्ट समझ मे आता है कि अध्यात्म की पृष्ठभूमि अरस्तु के साथ थी इसलिए समस्या उठने ही नही पायी। दूसरी ओर उसकी पत्नी के साथ अध्यात्म नही था, फलतः वह उलझ रही थी। समस्या एक ओर है तो दूसरी ओर समाधान भी प्रस्तुत है।

दृष्टि का विपर्यास

सब समस्याओ की ओर से मुंह मोड़कर केवल अपनी समस्या की ओर ध्यान दें। हम बाहर मे भटकते है तो शक्ति क्षीण होती है। सूर्य की किरणे केन्द्रित करने से अग्नि प्रज्वलित होती है और केन्द्रित हवा गुब्बारे को आसमान मे उड़ाती है किन्तु हम मन की शक्ति को केन्द्रित न कर विकेन्द्रित कर देते है। मै इसीलिए कहता हूं कि अपने आप पर ध्यान दे, यही अध्यात्म है। समस्याओ को सुलझाने का विकल्प बाहर में ही ढूढते है, अन्तर की ओर नही जाते। हम सब बाहर ही खड़े है, भीतर जानां नही चाहते। भीतर से भय लगता है। कितनी विपरीत बात है! जहा भय है वहा हम खड़े है और जहा निर्भयता है वहा जाते भयभीत हो रहे है—

> 'मूढात्मा यत्र विश्वस्त., ततो नान्यद् भयास्पदम।
> यतो भीतस्ततो नान्यद्, अभयस्थानमात्मन ॥''

जहां से वह डर रहा है, वही अभय का स्थान है।

दृष्टि का विपर्यास जब तक नही मिटेगा तब तक समस्या सुलझने वाली नही। घाव की दवा घाव पर ही लगानी होती है। आचार्य भिक्षु ने एक दृष्टान्त से समझाते हुए कहा कि आंख का रोगी आंख की दवा को आख में नही डालना चाहता; क्योकि उसे जलन होती है। इसीलिए वह पीठ पर मलता है। क्या इससे आंख ठीक हो जायेगी ?

समस्या [illegible] आग्रह

सारी समस्याए आग्रह के कारण उलझती है। जीवन मे अनाग्रह और सत्य आना चाहिए किन्तु इसके लिये अवकाश ही कहां है ? दिमाग मे ताले लगा रखे है। दरवाजे [illegible] खिड़की तक भी खुली नहीं रखी है। जाति का ताला लगा है, वर्ण और सम्प्रदाय [illegible]। हिन्दुओं के जातिवादी तिरस्कार से अनेक हिन्दू, ईसाई और मुसलमान

बन गये । जैन-धर्म सिद्धान्ततः जातिवाद को नही मानता किन्तु व्यवहार में जैनाचार्यो ने भी अपने यहां ताले लगा दिये । डा० अम्बेडकर जैसे व्यक्ति ने जैनधर्म स्वीकार करने की इच्छा व्यक्त की, प्रयास किया और कई जैनाचार्यो से मिले, परन्तु हम उन्हे भी स्वीकार नहीं कर सके, जबकि भगवान् महावीर ने जातिवाद पर प्रहार किया, अनेक आचार्यो ने जातिवाद के विरुद्ध पचासों ग्रन्थ लिख डाले । इसी प्रकार भाषा का ताला लगा है ।

जहां समन्वय और एकता की बात थी; वही विरोध, झगड़ा और अनेकत्व है । जब तक ये सारी समस्याएं नही सुलझेगी तब तक दूसरी समस्याएं कैसे सुलझेगी ? सबसे प्रथम है अध्यात्म के द्वारा हम स्वयं के अन्तर की समस्याओ को सुलझाएं । भीतर जाकर समस्याओ का समाधान ढूंढ़े तो उन सभी समस्याओ का समाधान मिल सकता है ।

एकागीपन को छोड़कर दोनो आंखों से देखे । बाहर का बाहर और भीतर का भीतर ढूढ़ें । यही सही समाधान है ।

जीवन की तुला : समता के बटखरे

एक आदमी गाय रखता है, उसे घास खिलाता है; दूध दुहकर गर्म करता है और जमाता है। दही का फिर बिलौना करता है। इतना कार्य क्यो करता है ? यह लम्बी और दीर्घकालीन प्रक्रिया नवनीत के लिए की जाती है। स्नेह और मक्खन के लिए ही यह परिश्रम किया जाता है। जीवन मे खाने-पीने, श्रम आदि की सारी लम्बी प्रक्रिया इसलिए करते है कि सुख और शान्ति से जी सके।

जीवन का नवनीत

जीवन का नवनीत है—शान्ति। जिन्दगी का मक्खन है—मन की शान्ति। हम धर्म, भगवान् और शास्त्रों के पीछे शान्ति के लिए ही जाते है। हज़ारो मील की यात्रा करके भी व्यक्ति वहां पहुँच जाता है, जहा शान्ति मिलने की आशा हो, समाधि मिलती हो। शान्ति नही ही मिलती है ऐसा नही कहा जा सकता, किन्तु शान्ति का प्राप्त होना सहज नही है क्योकि शान्ति के लिए जो तपस्या करनी चाहिए, व्यक्ति उसे कर नही पाता। चार मास की तपस्या करना सरल बात है किन्तु चार मिनट के लिए भी समभाव में रहना कठिन बात है।

मन मे उच्चावच भाव आते है, उतार-चढ़ाव की स्थिति पैदा होती है तो 'शान्ति भंग हो जाती है। यह परिस्थितियो के कारण आता है। व्यक्ति स्वय मे स्थित नही है, दूसरों से प्रभावित होता है। रात होते ही नीद आने लगती है, सुबह होते ही चाय-जलपान की आवश्यकता महसूस हो जाती है। वह क्षेत्र, व्यक्ति, मान, अपमान, सम्मान से प्रभावित होता है। यदि इनसे व्यक्ति प्रभावित नही होता तो कठिनाई नही होती।

प्रभावित है शंकर भी

शंकर के पास एक बार शनिदेव आया और बोला, "भगवन् ! अब आपकी राशि [illegible] साढ़े साती के साथ आने वाला हूँ।" शनिदेव चला गया लेकिन शंकर को उसके [illegible] से अपमान का अनुभव हुआ। उन्होने शनि की चुनौती स्वीकार कर ली और सोचा [illegible] ऊपर साढ़े सात वर्षों तक निरन्तर तपस्या और साधना मे लग जाऊंगा, [illegible] क्या बिगाड़ लेता है। शंकर ने साढ़े सात वर्षों तक एकांत मे साधना [illegible] नहीं किया। समय पूरा होने पर शनि आया तो शंकर ने कहा—

"छोकरे ! तूने मेरा क्या बिगाड़ लिया ?" शनि ने हँसकर कहा— "भगवन् ! भला इससे अधिक कष्ट क्या दे सकता था कि आप पूरे साढ़े सात वर्षो तक भूखे और प्यासे रहे।" जब शकर भी परिस्थिति से प्रभावित हो गए तो साधारण व्यक्ति की क्या बात ?

कठिन है अप्रभावित रहना

मन को परिस्थितियो से अप्रभावित रखना कठिन है। कोई आदमी सम्मान देता है, प्रशंसा करता है तो गर्व का भाव आ जाता है। इसके प्रतिकूल कही अपमान हो जाए अथवा आलोचना हो तो क्रोध का भाव आता है। यह हर्ष और क्रोध स्वय का नही, बाहर से आता है। ये बाहरी नाले और सुराख जब तक बन्द नही होगे, शान्ति नही मिलेगी। इन आश्रवो—छेदो और खिड़कियो को जब तक बन्द नही करेगे, तब तक दूसरो के हाथ के खिलौने बने रहेगे। हमारे भाग्य की कुंजी दूसरे के हाथो मे चल रही है। टेप-रेकार्डर बोलता है किन्तु यह आवाज उसकी नही, किसी दूसरे व्यक्ति की है। ठीक वही गति हमारी है।

हम स्वयं अपने भाग्य के स्वामी नही है। अपने आपको स्वय के बटखरों, गजो से तोलना-मापना नही जानते। दूसरों के ही बटखरो से तोलते है। दूसरो के कहने से ही अपने को अच्छा या बुरा मान लेते है। अच्छे-बुरे का मानदड अपना नही, लोग जैसा कहते हैं व्यक्ति वैसा ही बन जाता है। जब तक मनुष्य दूसरो के इशारे पर नाचता रहेगा तब तक शान्ति की कल्पना नही हो सकती। इसलिए दूसरो की इच्छा और इशारे पर नाचना बद करना जरूरी है।

विषम भाव से बचें

जब तक समता की साधना नहीं होगी, तब तक धर्म और शान्ति प्राप्त नही की जा सकती। भगवान् महावीर ने सामायिक की बात कही, समता की साधना का उपदेश दिया। हमे वैषम्य से बचना है, तभी शान्ति की बात सहज होगी। यह बात कहने मे सुगम है किन्तु करना कठिन है। शेर की गुफा मे जाने से भी अधिक कठिन है विषम भाव से बचना। कहा गया—

"लाभा-लाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निन्दा पंससासु, तहा माणावमाणओ।"

—लाभ-अलाभ, सुख-दु ख, जीवन-मरण, मान-अपमान आदि मे समभाव रखो। बात ठीक लगती है, किन्तु व्यवहार मे देखे कि क्या स्थिति है ? अनुकूल मे प्रसन्नता, प्रतिकूल मे दु ख होता है और मन स्थिति मे परिवर्तन हो जाता है। प्रतिकूल से निराशा, हीन भावना, दयनीयता आती है, जिससे अनेक घटनाए घटित होती है। आत्महत्या जैसी भयावह स्थिति पैदा हो जाती है। लाभ-अलाभ मे समान रहना कठिन है। राम को दशरथ ने राज्य देने

की घोषणा की तो हर्ष नही, वनवास दिया तो विषाद नही। सचमुच यह तभी सम्भव है यदि व्यक्ति राम हो।

शन्ति है स्व-रमण में

राम अर्थात् अपने आप मे रमण करने वाला। बाह्य मे रमण करने वाला शान्ति नही पा सकता। अपने आप मे रमण करना ही शान्ति है। सुख-दु ख, जीवन-मरण मे समान रहना बहुत कठिन है। मनुष्य मरने की स्थिति को सपने में देखकर भी रोने लगता है। फिर साक्षात् मौत देखकर उसकी जो हालत होती है, उसकी कल्पना भी नही की जा सकती। यदि किसी को मरने का दिन बता दिया जाए तो वह भय से अधमरा हो जाता है। कभी-कभी मौत के भय से मौत भी हो जाती है। इसी प्रकार मान और अपमान का प्रश्न भी है। अपने अपमान के लिए प्रतिशोध की बात तुरन्त उठती है, भले ही सामने वाले व्यक्ति के मन मे कही थोड़ी-बहुत भी अपमान करने की भावना नहीं हो।

समझदार व्यक्ति बोलता नही, भाव प्रदर्शित नही करता, किन्तु गाठ बाध लेता है। मन को सीधा घुमा देता है, मोड़ लेने की भी जरूरत नही होती। अपमान-सम्मान मे सम रहना दुष्कर है। मानसिक विषमता, उतार-चढ़ाव, पर विजय पाए बिना शान्ति नही। शान्ति फल है, बीज नहीं। शान्ति कार्य नही, परिणाम है। बीज के बिना फल नही। उसका कारण है समभाव—समता की आराधना किए बिना शान्ति का प्रश्न सुलझने वाला नही है। धर्म क्या है ? समता के सिवाय कोई धर्म नही। भगवान् महावीर ने समता का उपदेश दिया। जैन-शासन से समता को हटा दें तो कुछ नही बचेगा।

शान्ति का मूल

आज धर्म के क्षेत्र को भी व्यवहार के बाटों से तोलते है, दुनियावी लोग स्थिति को व्यवहार से तोल सकते है। वे मान का सम्मान, अपमान का तिरस्कार से प्रत्युत्तर दे सकते है। उनका यह चिन्तन हो सकता है—

तुम आवो डग एक, तो हम आवें डग अट्ठ।
तुम हमसे करड़े रहो, तो हम हैं करड़े लट्ठ ॥

धार्मिक ऐसा नही कर सकता। वह प्रतिकूल के लिए भी अनुकूल ही करेगा। महावीर ने चण्डकौशिक के प्रति भी कल्याण का ही चिन्तन किया। वैरभाव के बदले [illegible] वात्सल्य का भाव प्रदर्शित किया। जिस जीवन मे समता का विकास नहीं, अध्यात्म का विकास नहीं, वहा शान्ति नही। धर्म और शान्ति का मूल है—समता भाव।

धर्म का मर्म

[illegible] की साधना और विकास तब तक नही हो सकता जब तक हम दूसरे के [illegible] को नहीं भूलते। वह भूलना भोलापन नहीं, मूर्खता भी नहीं। हर स्थिति

को समझकर भी जो विरोधी व्यवहार नहीं करेगा, वही धार्मिक है। जिस व्यक्ति के मन में धर्म है, वह समझकर भी वैसा व्यवहार नही करेगा। जिस दिन दूसरो के मनोभावो से प्रभावित होकर अपने मानेभाव व्यक्त नही करेगे, दूसरो के पैरो से प्रभावित होकर नहीं चलेंगे, तब समता और समभाव प्रकट होगा। अध्यात्म का द्वार खुलेगा और मन को शान्ति मिलेगी।

जो सारे साधन होते हुए भी बिलखते-बिलखते जीते है, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, क्रोध आदि अवगुण पालकर अपने जीवन मे घुन लगा लेते है, वे सचमुच जीना ही नही जानते। जो धार्मिक नही होता, वह जीने की कला नही जानता। धर्म के मर्म को समझने वाला ही सुख से जी सकता है।

करुणा का दोहरा रूप

शमार्थ सर्वशास्त्राणि, विहितानि मनीषिभिः ।
स एव सर्वशास्त्रज्ञः, यस्य शान्तं सदा मनः ।।

एक आचार्य ने चितन किया कि क्या कोई सर्व-शास्त्रज्ञ हो सकता है ? उन्हे लगा कि यह सम्भव नही, क्योकि अनेक भाषाओं में अनेक ग्रंथ है । भला किस-किस को पढ़ा जाए ? सारी जिन्दगी खपने पर भी सभी शास्त्रों को पढ़ना सम्भव नही होगा । चिंतन का दूसरा पहलू उभरा और उनको लगा कि वही व्यक्ति सर्व-शास्त्रज्ञ है, जिसका मन सदा शात है, क्योकि सभी शास्त्र शाति के लिए रचित होते है ।

व्यक्ति अशांत क्यों है ?

शान्ति और अशान्ति के बीच सारी दुनिया झूल रही है । अशान्ति से शान्ति की ओर आने का मनुष्य अथक प्रयास कर रहा है किन्तु जब तक वह अशान्त है, शान्ति उसे मिल नही सकी । मनुष्य ने अन्य बहुत कुछ पाया किन्तु शान्ति को प्राप्त नही कर सका । अशान्ति का प्रश्न जहा का तहा और ज्यो का त्यों है । बैलगाड़ी पर चलने वाला मनुष्य रॉकेट और स्पूतनिक की यात्रा कर रहा है, समुद्र की गहराई मे पैठ गया है और मशीनो तथा यंत्रो का चरम विकास हुआ है । स्थिति ऐसी बन रही है कि तोप से तोप लड़ेगी । युद्ध भी आदमी नही, उसकी बुद्धि ही लड़ेगी । मनुष्य उपकरण-प्रधान हो गया है, फिर भी अशान्ति की इतिश्री नही हो रही है । जहां धन वैभव, भोग और विलास ज्यादा है, जहा शास्त्रों की प्रचुरता है वहा तो दु ख और भी अधिक है, अशान्ति ज्यादा है । विद्या की विविध शाखाए होने पर भी, सुख-सुविधा के साधनो का विकास होने के बावजूद भी व्यक्ति अशान्त क्यो है ?

ऐसी स्थिति क्यो ?

हमे क्या बनना है ? इसका आज चिंतन नही है । स्वयं का निर्माण करना जरूरी है । भारत को भी निर्णय करना है कि उसे क्या बनना है ? प्रवाह से बचना उसके लिए [illegible] है यद्यपि भारत को स्थिर रहकर प्रवाह के विरुद्ध चलना था, क्योंकि यहां अध्यात्म [illegible] है । मनु ने कहा था—'इस देश से दुनिया चरित्र की शिक्षा ले ।' अब

वह श्लोक दोहराने का मन ही नही करता, क्योकि यहां से अब मिलावट, अप्रामाणिकता और चोरी की ही शिक्षा मिल सकती है। गीता, रामायण, आगमसूत्र, पिटक, अद्वैत का चितन एवं पातंजल का योगशास्त्र जैसे ग्रन्थ और नियम होने पर भी आज ऐसी स्थिति क्यो ? स्वय शकराचार्य ने अपने आपको विधि-निषेधों का किंकर माना है। कहां गया हमारा वह धार्मिक चितन ?

यह है करुणा

धर्म का प्रथम पाठ था करुणा। व्यक्ति धर्म के इस तत्त्व को भूल गया है। करुणा का अर्थ है मन की मृदुता। जिस व्यक्ति की क्रूरता धुल जाती है, वह धार्मिक है। आज की दोहरी करुणा अपेक्षित नही। व्यापार में गरीब का गला काटते करुणा नही आती किन्तु वे ही धर्म के नाम पर गरीबों को करुणापूर्वक कुछ दान देते है, चीटियो को चीनी डालते है। करुणा श्रीमद् राजचंद्र की थी। उन्होने एक व्यापारी से सौदा किया, भाव बढ़े और व्यापारी को पचास हजार रुपयों का नुकसान होने वाला था। श्रीमद् राजचद्र उसके घर पहुचे तो व्यापारी ने कांपते हुए कहा— "मुझे थोड़ा समय दे ताकि मै आपकी पाई-पाई चुका सकू।"

श्रीमद् राजचंद्र ने सौदे के समझौते का कागज उससे लिया और अपने हाथो फाड़ते हुए कहा—"राजचद्र दूध पी सकता है, किन्तु किसी का खून नही पी सकता। तुम्हारा सौदा समाप्त हुआ।" यह है करुणा। आज इसका शताश भी तो नही दिखता।

ध्वंस के बिना निर्माण नहीं होता

आज तो गली-सड़ी दूषित वृत्ति देखी जा रही है, जहा दिन-भर की क्रूरता को चीटी के बिल मे चीनी डालकर मिटाने का प्रयास होता है। बुद्ध ने करुणा, महावीर ने अहिसा और गीता ने अनासक्ति का उपदेश दिया। किन्तु फिर भी कुछ असर नही देखा जा रहा है। केवल क्रियाकाडो से ही संतुष्टि मान रहे है। जीवन मे परिवर्तन, सस्कारो मे मोड़, जीवन का विकास और आचार-धर्म को विकसित करने की आवश्यकता ही अनुभव नही कर रहे है।

आचार्य तुलसी इसीलिए धर्म की अधश्रद्धा तोड़ना चाहते है, उसे हिला रहे है। बनाने के लिए भी तोड़ना पड़ता है। ध्वस के बिना निर्माण नही होता।

धर्म का पहला पाठ

आधुनिक युग मे पढ़ने को बहुत ज़्यादा महत्त्व दिया जाता है और शास्त्रों के अध्ययन पर तो विशेष जोर दिया जाता रहा है। किन्तु एक आचार्य ने लिखा है—

वेदान्यशास्त्रवित् क्लेश, रसमध्यात्मशास्त्रवित्।
भाग्यभृद् भोगमाप्नोति, वहति चन्दन खर ॥

—'शास्त्रो को कोरा जानने वाला उनका भार ढोता है और क्लेश पाता है। वह तार्किक बनकर दु ख उठाता है क्योकि उसने केवल बुद्धि का व्यायाम किया, अध्यात्म नही पढ़ा। गधा चदन का भार ढोता है किन्तु उसका भोग कोई दूसरा भाग्यशाली ही करता है।'

हमारी अधिकाश समस्याएं शब्दो तक ही उलझ रही है। यह भी कहा जा सकता है कि अनेक समस्याए केवल शब्दो का जाल है। हमारी दुर्बलता है कि भाषा और शब्दो के बिना काम नही चलता। अधिकांश समस्याएं शब्दगत एवं भाषागत है, जिनके बीच मनुष्य छटपटा रहा है। दिल्ली से राजस्थान के मार्ग मे मैने टूटी-फूटी सड़क देखकर एक कर्मचारी से कारण पूछा। उसने बताया— आपकी नजर मे सड़क टूटी हुई है किन्तु सरकारी फाइलो मे यह सड़क बन चुकी है। यह है शब्दो की समस्या। हमारी विवशता या दुर्बलता है कि हम उससे मुक्त नही हो पाते, किन्तु यदि मुक्ति की ओर अभिमुख हो जाएं तो भी बहुत काम हो जाएगा। मुक्ति, अध्यात्म और योग को लोगो ने जटिल मान लिया है और इस मार्ग की ओर बढ़ने का साहस नही जुटाते। धर्म, अध्यात्म और योग का [illegible] है हमारी अभिमुखता मुक्ति की ओर हो जाए।

[illegible] [illegible] नहीं है

किया गया है— जो आत्यन्तिक, निर्बाध एवं ऐकान्तिक है वही सुख है। भगवान् ने कहा— 'जेण सिया तेण नो सिया'—जिससे हो सकता है उससे नही भी हो सकता। सुख वह नहीं है जिसे हम मान रहे है। जो अनैकान्तिक है, जो बाधित है और जिसका निर्वाह अन्त तक नही है, वह सुख नही है।

आज ऐसा लगता है कि अपनी ही अविद्या के कारण सुख की अनुभूति से वचित हो रहे है। ध्यान से सुख की अनुभूति होती है। खाने, पीने आदि से वह सुख नही। आप सोचेगे— जो खाता-पीता नही, बोलता नही, केवल ध्यान करता है, उसे सुख कैसे मिल सकता है ? यह प्रश्न किसी ध्यानी से ही पूछें। जिस आनद को अनुभव करने की स्थिति है वहां लोग कम जाते है, और अपने दिमाग का दरवाजा बद रखते है। व्यक्ति बाहर ही ज्यादा भागता है, अपने अंतर की ओर अभिमुख नही होता। उसने स्वय को भीतर जाने का अवकाश ही नहीं दिया। आज भौतिक विद्याओ मे ही मनुष्य का ध्यान अटककर रह गया है। भौतिक विद्याए आवश्यक हो सकती है, किन्तु क्या केवल उन्ही की उपयोगिता है ? भौतिकता के अतिरिक्त हमे अध्यात्म की खिड़की से भी झाकना है और इसी का नाम है व्रत।

व्रत का दर्पण

व्रत नितान्त व्यावहारिक नही है। वह गहराई मे बहुत आध्यात्मिक है। यह वह कवच है, जो हमे बाहर और भीतर दोनों ओर से रक्षित करता है। व्रत का दर्पण होगा नैतिकता। व्रती व्यक्ति जो स्वय को नैतिकता के दर्पण मे देखता है उससे समाज को कभी नुकसान नही होगा। उस व्रत के धरातल मे अध्यात्म की भूमिका होगी। व्रत की बात प्रत्येक धर्म मे है। महात्मा गाधी ने ग्यारह व्रत दिये। आधुनिक धार्मिक धार्मिक तो बनना चाहते है किन्तु व्रती नही बनना चाहते। इसीलिए आज धर्म तेजहीन बन गया है। धार्मिक भी जीवन-शुद्धि के लिए नहीं अपितु स्वर्ग के प्रलोभन अथवा नरक के भय से बचने के लिए बनते है। धार्मिक का व्रती नही बनना धर्म के साथ अन्याय है। व्रती बने बिना कोई आदमी धार्मिक नही बन सकता। आज धर्म का प्रथम पाठ पढ़ने की आवश्यकता है। लम्बी-चौड़ी परिभाषाओ और विवेचन मे जाने की अपेक्षा व्रतो की सरल पगडंडी चुनना धर्म का प्रथम पाठ है।

धर्म की तोता-रटन्त

एक कुए के ऊपर एक राजहस आकर बैठ गया। मेढक कुए के भीतर से बोला—

रे पक्षिन्! आगतस्त्व कुत इह सरसस्तद् कियद् भो विशाल
कि मद् धाम्नोऽपि बाढ नहि नहि महत् पाप! मा ब्रूहि मिथ्या।
इत्थ कूपोदरस्थ सपदि तटगतो दुर्दुरो राजहस,
नीच स्वल्पेन गर्वी भवति हि विषया नापरे येन दृष्टा ।

पक्षी! तू कहा से आया? पक्षी ने कहा—मैं राजहस हू और मानसरोवर से आया हू। मेंढक ने छलाग भरकर कहा—'क्या तुम्हारा मानसरोवर इतना बड़ा है?' राजहस ने कहा--'इससे बहुत बड़ा है।' मेंढक ने इसी प्रकार अनेक छलागे लगाई। फिर वही उत्तर दिया मेंढक ने कहा-- 'तुम झूठे हो। इससे बड़ा तुम्हारा मानसरोवर हो ही नहीं सकता।' ओछा आदमी थोड़े पर गर्व करने लग जाता है क्योंकि उसने बहुत नहीं देखा।

जो ओछा होता है, वह छोटा होता है। जो सकीर्ण है उसमें अहं [illegible] होता है। यही मनोदशा आज के व्यक्ति की है। व्यक्ति सोचता है कि मेरे धर्म, सम्प्रदाय, शास्त्र [illegible] धर्म-ग्रन्थ से बड़ा अथवा महान् कोई नहीं हो सकता। वह यह भी सोचता है कि, मेरे चिन्तन से अच्छे, मेरे विचार से ज्यादा सही चिन्तन नहीं है। यही दर्शन [illegible] होता है। विकास का अवरोध कर देता है।

शब्दो के जाल में उलझा है आदमी

धार्मिक का पहला कर्तव्य होना चाहिए पवित्रता की ओर प्रयाण। पवित्रता के बिना धार्मिकता टिक नही सकती। शब्दो के जाल और रटी-रटाई बातो मे धार्मिक फसा हुआ है। अपना अनुभव जोड़ने की बात उसे नही आती है, दूसरो की कही-सुनी बातो को तोते की तरह रट रहा है। आवश्यकता है—जानी हुई बातो को अनुभव मे उतारे।

एक साधु ने सद्गृहस्थ को 'सोऽह' का जाप बताया क्योकि सन्त अद्वैतवादी थे। कुछ दिनो के बाद द्वैतवादी संत आए और उन्होने जब यह मन्त्र सुना तो नाराज होकर उस मन्त्र के पीछे दो अक्षर जोड़कर 'दासोऽहं' जपने का आदेश दिया। थोड़े दिनो के बाद पुन· अद्वैतवादी संत आए और 'दासोऽह' जपते देखकर कहा—''यह क्या कर रहा है, मूर्ख! इसे ठीक कर और कह—'सदासोऽह'।''

बेचारा किसान 'सदासोऽहं' जपने लगा द्वैतवादी संत भी वापस पहुचे। मत्र की दुर्दशा देखकर उन्हें दया आ गई और बोले—''नादान! तू भगवान नही है। इस मत्र के पीछे एक 'दा' और जोड़कर जाप कर—दास-दासोऽह।

मार्मिक चित्रण

किसान 'सोऽह' से चलकर 'दासदासोऽहं' तक आ गया। इस कहानी मे आज के धार्मिक का मार्मिक चित्रण किया गया है। वह दूसरों के चिन्तन पर चलना चाहता है। अपनी ऑच पर तपाए सोने की तरह उपयोग नही करता, अपने अनुभव-चिन्तन-मनन का प्रयोग नही करता। अपनी अनुभूति के साथ सम्बन्ध जोड़े बिना, रटी-रटाई बाते सुनकर धार्मिक बनने का अह करना खतरनाक है।

लोग धर्म करते जाते है किन्तु क्या पीछे मुड़कर कभी देखते भी है, सचमुच धर्म कर रहे है या धर्म के नाम पर कुछ और ही हो रहा है। धर्म किया और आनन्द तथा शान्ति मिली तब तो ठीक है अन्यथा धर्म के नाम पर उसकी छाया का सेवन हो रहा है। यदि धर्म करने के बाद भी शक्ति और तेज नही बढ़ा, वही कायरता मौजूद है तो पीछे मुड़कर देखने की जरूरत है।

परिणाम धर्म का

धर्म के तीन परिणाम आते है

१ चैतन्य अथवा ज्ञान का विकास।

२ आनन्द का विकास।

३ शक्ति का विकास।

चैतन्य, आनन्द और शक्ति— इन तीनो का विकास हो रहा है तो समझे कि धर्म हो रहा है, अन्यथा नही। राग-द्वेष की अल्पता का होना ही धर्म है। धर्म के विषय मे

जहाँ जागरूकता से काम लेना चाहिए। धर्म से वह तत्त्व मिलना चाहिए जो किसी भी दूसरी वस्तु से प्राप्त नहीं होता है।

धर्म है आत्मरमण

वर्षों तक दवा-सेवन के बाद भी यदि लाभ नहीं दीखे तो क्या वही दवाई लेते रहेंगे ? धर्म का अनुभव भी हमें उसी क्षण मे होना चाहिए, जिस क्षण धर्म करते है। आनन्द और अतिरिक्तता हमें धर्म के साथ-साथ ही मिलने चाहिए। जैसे पानी और कपड़ा है। पानी ओढ़ा नहीं जा सकता, पिया जा सकता है, किन्तु कपड़ा पिया नहीं जा सकता, ओढ़ा जा सकता है। कपड़े और पानी की यही अतिरिक्तता है।

पैसों के द्वारा धर्म खरीदा नहीं जा सकता, धर्म द्वारा भौतिक लाभ होना जरूरी नहीं। भौतिकता का लाभ यदि धर्म के लाभ की तरह होता तो समझें वह धर्म नहीं। धर्म का लाभ है आनन्द। जो लाभ भौतिकता से नहीं मिल सकता, वह है आत्म-रमण। यह आत्म-रमण और आनन्द गूँगे का गुड़ है। इसीलिए हमारे साहित्य मे शब्द आया है— अनिर्वचनीय एव अवाच्य। धर्म को बताया नहीं जा सकता। भौतिकता के सन्दर्भ में लिपटे धर्म को करते जायेंगे तो वह प्राप्त नही होगा जो हमे चाहिए। अतिरिक्त धर्म की उपासना से ही अतिरिक्त आनन्द की प्राप्ति हो सकेगी।

यदि मनुष्य धार्मिक होता

मनुष्य सीमा मे बधा हुआ जन्म लेता है। असीम बनने का प्रयत्न उसका सिद्धान्त पक्ष है।

मनुष्य व्यक्ति के रूप मे आता है, सामुदायिक बनता है जीवन की उपयोगिता के लिए।

वैयक्तिकता : सामुदायिकता

जीवन में कुछ ऐसे तत्त्व है, जो प्रसरणशील नही है। उनकी सीमा मे मनुष्य की वैयक्तिकता सुरक्षित रहती है। कुछ तत्त्व प्रसरणशील होते है, वे उसे सामुदायिक बनाते है। समाज की भाषा में वैयक्तिकता अच्छी नही है, तो कोरी सामुदायिकता भी अच्छी नही है।

दोनो की अपनी-अपनी सीमाए है। व्यक्ति को सामुदायिकता के उस बिन्दु पर नहीं पहुचना चाहिए, जहा उसकी स्वतन्त्र सत्ता ही न रहे। उसे वैयक्तिकता की वह रेखा भी निर्मित नही करनी चाहिए, जो स्वार्थ के लिए औरो के अस्तित्व को अपने मे विलीन कर दे। स्वस्थ विचार वही है, जो दोनो की मर्यादा का व्यवस्थापन करे।

वैयक्तिकता का नाश सत्तात्मक अधिनायकवाद से होता है। सत्ता को उत्तेजन देता है व्यक्ति का स्वार्थ—सामुदायिक सीमा का अतिक्रमण।

यदि मनुष्य क्रूर नहीं होता

मनुष्य मे अपनी सुख-सुविधा के लिए एक विशेष प्रकार का रागात्मक मनोभाव होता है। वही उसे दूसरों के प्रति क्रूर बनाता है। यदि स्व के प्रति अनुराग न हो तो पर के प्रति क्रूर होने का कोई कारण ही न रहे। शत्रुता इसीलिए उत्पन्न होती है कि मनुष्य अपने हितो को दूसरो के हितो के विनाश की सीमा तक ले जाता है। यदि वह अपनी सीमा मे रहे, तो सब एक-दूसरे के मित्र ही मिले। मैत्री मे जो आनन्द, शान्ति और अभय है, वह शत्रुता मे नही है। शत्रु-भाव की सृष्टि सहज है, किन्तु उसके परिणामो से बचना सहज नही है। विश्व के रंगमंच पर अनेक रक्त क्रान्तिया हुई। कुछेक व्यक्ति क्रूर बने। उन्होने दूसरो के स्वार्थो पर आघात किया। क्रूरता ने क्रूरता को जन्म दिया। बहुत क्रूर बने और थोड़ो की क्रूरता को नही, किन्तु स्वय को ही मिटा डाला। यह रक्तक्रान्ति का

—

की रीढ़ है। दैहिक भेद वास्तविक नही है। जातीय, क्षेत्रीय, प्रान्तीय, राष्ट्रीय और भाषागत भेद कृत्रिम है, यह जानकर भी मनुष्य अपनी जाति का गर्व और दूसरी जाति का तिरस्कार करता है। क्षेत्रवाद, प्रान्तवाद, राष्ट्रवाद और भाषावाद के आधार पर मनुष्य मनुष्य मे विरोध का बीज वोता है, मनुष्य की वास्तविक एकता को काल्पनिक सिद्धान्तों के आधार पर छिन्न-भिन्न करता है, मनुष्य मनुष्य का शत्रु वनता है—ये दोष जन्म नही लेते, यदि मनुष्य धार्मिक होता।

क्रूरता और असहिष्णुता अमैत्री के मूल है। सामाजिक जीवन मे मैत्री की अपेक्षा है। धार्मिकता मैत्री का उद्‌गम-स्थल है। मैत्री के लिए उसकी चर्चा ही पर्याप्त नही है। आवश्यकता यह है कि क्रूरता और असहिष्णुता पर विजय पाने का यत्न किया जाए। उससे जीवन मे धार्मिकता विकसित होगी और सामाजिक जीवन मे मैत्री की जो अपेक्षा है, वह अपने-आप पूर्ण होगी।

स्वस्थ समाज की अपेक्षाएं

आज हिन्दुस्तान सक्रमणकाल मे गुज़र रहा है। पुराने मूल्य बदल रहे है और नये मूल्य स्थिर नही हुए है। इसीलिए वह अनेक नई कठिनाइयो का सामना करने को विवश है। पुराने लोग धर्म को सर्वाधिक मूल्य देते थे। आज के बुद्धिवादी युवक की दृष्टि मे उसका कोई मूल्य नही है। धर्म को सर्वाधिक मूल्य इसलिए दिया जाता था कि उससे मोक्ष मिलता है, मनुष्य सारे बन्धनो से मुक्त होता है। स्वतन्त्रता का मूल्य आज भी सर्वोपरि है। किन्तु उसका सम्बन्ध केवल राष्ट्र से है—भौगोलिक सीमा से है। मनुष्य की इन्द्रियो, मन और चेतना की स्वतन्त्रता से उसका कोई सम्बन्ध नही है। धर्म का सिद्धान्त पारलौकिक होने पर भी इहलौकिक था। उसमे वर्तमान जीवन भी पूर्णरूपेण अनुशासित होता था। आत्मानुशासन और सयम का अविरल प्रवाह जहा होता, वहा दायित्वों, कर्तव्यों और मर्यादाओ के प्रति जागरूकता सहज ही हो जाती है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का सिद्धान्त सर्वथा इहलौकिक है। वर्तमान जीवन को अनुशासित करने के लिए इसे सर्वोपरि माध्यम माना गया है। किन्तु भारतीय युवक मे जितनी धर्म-चेतना विलुप्त हुई है, उतनी राष्ट्रीय चेतना जागृत नही हुई है। इसीलिए उसमे आत्मानुशासन और सयम का अपेक्षाकृत अभाव है और इसीलिए वह दायित्वो, कर्तव्यो और मर्यादाओ के प्रति कम जागरूक है।

विनम्रता का ह्रास

वचन का मूल्य

पुराने जमाने मे यह माना जाता था कि वचन का मूल्य सर्वोपरि होता है। जो महान् आदमी होते है, उनके वचन पत्थर की लकीर के समान अमिट होते है। जिस आदमी का वचन जल ही लकीर के समान होता है, वह महान् नही माना जाता। वर्तमान मे अपने वचन से मुकर जाना बड़ा कौशल है और बड़े आदमियो की खास पहचान है। पारस्परिक अविश्वास बढ़ाने मे इसने वहुत वड़ा योग दिया है।

नैतिक मानदण्ड

पहले लोग केवल भारतीय थे। उनका सोचने-समझने का सारा ढग भारतीय था वे भारतीय पद्धति से ही जीते और उसी पद्धति से मरते थे। अव वैज्ञानिक उपलब्धियो ने सारे विश्व को बहुत निकट ला दिया है। अब भारतीय केवल भारतीय नही है, वह जागतिक है। इसलिए वह बहुत व्यापक दृष्टि से देखता है और उन्मुक्त मस्तिष्क से सोचता-समझता है। जब वह बुद्ध, महावीर, व्यास और शकर को पढ़ता था तब उसे नैतिक मर्यादाए अनिवार्य लगती थी। अब वह फ्रायड को पढ़ता है तो उसे लगता है कि ये मर्यादाए कृत्रिम है, इच्छाओ के दमन से निष्पन्न है। इनके पीछे वास्तविकता का कोई हाथ नही है। इसीलिए आज एक-एक कर मर्यादाए समाप्त हो रही है। नैतिक मानदण्ड गिर रहे है। आज विश्वविद्यालयो मे ब्रह्मचर्य की चर्चा उपहास का विषय बन जाती है। दिल्ली विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर श्री गागुली ने बातचीत के प्रसंग मे कहा—"मुनिजी! हम जब पढ़ते थे तब हमे ब्रह्मचर्य के बारे मे बहुत बाते बताई जाती थी। हमारा यह विश्वास हो गया था कि ब्रह्मचर्य बहुत बड़ी शक्ति है।"

शक्ति-सचय बहुत आवश्यक है। आज स्थिति बहुत भिन्न है। विश्वविद्यालय मे मै ब्रह्मचर्य के बारे मे कहू तो विद्यार्थी समझेगे— यह किस युग की बात कर रहा है। आज ब्रह्मचर्य के प्रति बहुत आदर की भावना नही है। उसकी अच्छाई के प्रति आस्था भी नही है। इसीलिए आज विलास का निरकुश चक्र चल रहा है।

स्वस्थ समाज की अपेक्षाएं

आत्मानुशासन सयम, विनम्रता, पारस्परिक विश्वास और इन्द्रिय-सयम—ये स्वस्थ समाज की अनिवार्य अपेक्षाए है। प्राचीन समाज मे ये अपेक्षाएं धर्म, विनय, वचन-निर्वाह और मर्यादाओ के द्वारा पूर्ण होती थी। अब इनके प्रति निष्ठा कम हो रही है। इसीलिए आज का युवक इनसे दूर हो रहा है। इन नामो से भले ही कोई दूर हो जाए पर इन अपेक्षाओ से कोई सामाजिक प्राणी दूर नही हो सकता। आत्मानुशासन के अभाव से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सुरक्षित नही रह सकती। जिस समाज मे अपने-आप पर नियत्रण करने की क्षमता होती है, उस पर राज्य का नियत्रण वहुत कम होता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता बहुत व्यापक होती है। जैसे-जैसे समाज मे आत्म-नियत्रण की शक्ति कम

होती है, वैसे-वैसे राज्य शक्ति व्यापक हो जाती है। लोग चाहते है— राज्य बड़ा न हो और व्यक्ति इतना छोटा न हो। यह चाह अनुचित भी नही है पर इसके लिए आत्म-नियन्त्रण की शक्ति का पुनर्मूल्यन अपेक्षित है।

विनय के बिना शिष्टता समाप्त हो जाती है और बड़ो के प्रति छोटो का व्यवहार अशिष्ट हो जाता है। जहा अनुज अपने पूर्वजो का सम्मान नही करते,वहां प्रेम की धारा सूख जाती है, जीवन रेगिस्तान बन जाता है। ऐसा न हो, वह सरसब्ज रहे, उसके लिए शिष्टता का पुनर्मूल्यन आवश्यक है।

वचन की प्रामाणिकता के अभाव मे सामाजिक व्यवहार अस्त-व्यस्त हो जाता है। हर आदमी चाहता है हमारा व्यवहार ठीक ढग से चले। पर उसके लिए कथनी और करनी की समानता का पुनर्मूल्यन आवश्यक है।

इन्द्रिय-सयम के बिना समाज शक्तिहीन बन जाता है। सब लोग चाहते है, हमारा समाज और राष्ट्र तेजस्वी रहे, पर उसके लिए इन्द्रिय-सयम का पुनर्मूल्यन अपेक्षित है।

समाज को शक्तिशाली रखना है, व्यवहार को सुशृखलित रखना है, सरसता को बनाए रखना है व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की लौ को प्रज्वलित रखना है तो उन पुराने मूल्यों को नया रूप देना ही होगा।

आज के समाज के लिए नये मूल्य होंगे—स्वतन्त्रता, शिष्टता, पारस्परिक विश्वास और सयम-शक्ति।

विशेषणहीन धर्म

आज का विद्यार्थी धर्म से बहुत कम परिचित है। साम्प्रदायिकता के कारण वह धर्म के नाम से सहमता है। यह माना जाने लगा कि धर्म की बात सोलहवी शताब्दी की है किन्तु ऐसा मानना भूल है। साम्प्रदायिकता ने मनुष्य का अनिष्ट जरूर किया है किन्तु मौलिक धर्म जीवन की पवित्रता है। बौद्धिकता के उपरान्त भी स्वतंत्र चेतना का जागरण धर्म ही करता है। पानी मे गध आ सकती है किन्तु केवल इसीलिए पानी पीना नही छोड़ा जा सकता है। उसे साफ और शुद्ध करके पीया जाता है। इसी प्रकार धर्म के नाम पर या धर्म के साथ गदगी अथवा साम्प्रदायिकता आयी है तो उसे मिटाकर शुद्ध कर सकते हैं लेकिन धर्म के नाम से भागने, सहमने और घबराने की आवश्यकता नही।

आचार्य तुलसी धर्म की बात तो करते है परन्तु वह धर्म विशेषणहीन है। वह है अणुव्रत। धर्म के पीछे जो परम्पराए, उपासनाएं और क्रियाकाड है, उन सबको अणुव्रत के साथ नही जोड़ा गया, क्योकि ये झगड़ो के निमित्त बन जाते है।

आस्था का प्रश्न

एक सेठ के यहा रसोइया था। उसका तिलक सेठ जी की तरह नहीं होता था। सेठजी सीधा तिलक निकलते थे और वह तिरछा तिलक करता था। सेठ ने उसे समझाया कि तिलक सीधा निकाला करो लेकिन रसोइया अपने विश्वास और सिद्धान्त पर अटल था। एक दिन सेठ ने धमकी देते हुए कहा— कल यदि सीधा तिलक नही निकाला तो नौकरी से निकाल दूंगा। दूसरे दिन रसोइया आया तो ललाट पर फिर तिरछा ही तिलक लगा था। सेठ ने डाटते हुए कहा—"मेरी आज्ञा नही मानकर फिर वही तिरछा तिलक किया है इसलिए अपना हिसाब कर लो।" रसोइए ने कहा—"मैने तिलक सीधा किया है।" सेठ ने पूछा—"कहाँ है वह सीधा तिलक ?"

रसोइए ने कमीज हटाकर पेट पर बने सीधे तिलक को दिखाते हुए कहा—"ललाट का तिलक मेरा विश्वास है और पेट के लिए नौकरी करता हू इसलिए आपका तिलक पेट पर है।"

आज धर्म का प्रश्न तिलक, चोटी, नमाज आर उपासना मे ही उलझ गया है। जहा हमारे जीवन की पवित्रता का प्रश्न है, जीवन-संघर्ष मे जहा जूझने का सवाल है वहां हमने मूल लक्ष्य को भुला दिया। अशिक्षा के साथ जीविका का प्रश्न जुड़ा हुआ है

किन्तु जीवन-सग्राम मे जूझने की शक्ति धर्म ही देता है। अपने परिवार और कुटुम्ब के साथ सामंजस्य स्थापित करना धर्म के द्वारा ही सीखा जा सकता है। सामजस्य-स्थापना की मनोवृत्ति धर्म के द्वारा विकसित होती है।

आवश्यक है संयम

स्कूल कॉलेजो मे शारीरिक एव बौद्धिक विकास होता है किन्तु बौद्धिक विकास के बाद भी कुछ विकास करना है। वह है चेतना का विकास। चेतना के विकास की कल्पना तक बौद्धिक नही कर सकता है। चेतना के विकास के सन्दर्भ मे ही अणुव्रत की बात कही गई। व्रत आच्छादन है, सुरक्षा है। मकान की छत धूप, वर्षा, सर्दी आदि से सुरक्षा करती है, वैसे ही जीवन एव मानसिक सघर्ष के समय व्रत ही उसे बचा सकता है। धर्म का मतलब ही है व्रत। यह हमारे जीवन की वह छत है जो हमे अनेक समस्याओं से बचा सकती है। व्रत का मूल है सयम। दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० गागुली ने कहा कि हमने छात्र-जीवन मे सयम सीखा, किन्तु आज छात्रो मे सयम की बात करे तो उपहास होता है लेकिन सयम आवश्यक है। अणुव्रत का घोष है—सयम ही जीवन है। हमारा जीवन सयमित होना चाहिए। खाने, पीने, बोलने, चलने—सबमे सयम अपेक्षित है। गीता, आगम, त्रिपिटक सबमे सयम की बात कही है। धार्मिक वही है, जो सयमी है। आज सयम की बाते कम सुनाई जाती है। राजनैतिक दलो के नेता भी असयम का ही पाठ पढ़ाते है।

अणुव्रत का दीप

विशेषणहीन धर्म

आज का विद्यार्थी धर्म से बहुत कम परिचित है। साम्प्रदायिकता के कारण वह धर्म के नाम से सहमता है। यह माना जाने लगा कि धर्म की बात सोलहवी शताब्दी की है किन्तु ऐसा मानना भूल है। साम्प्रदायिकता ने मनुष्य का अनिष्ट जरूर किया है किन्तु मौलिक धर्म जीवन की पवित्रता है। बौद्धिकता के उपरान्त भी स्वतत्र चेतना का जागरण धर्म ही करता है। पानी मे गंध आ सकती है किन्तु केवल इसीलिए पानी पीना नही छोड़ा जा सकता है। उसे साफ और शुद्ध करके पीया जाता है। इसी प्रकार धर्म के नाम पर या धर्म के साथ गंदगी अथवा साम्प्रदायिकता आयी है तो उसे मिटाकर शुद्ध कर सकते हैं लेकिन धर्म के नाम से भागने, सहमने और घबराने की आवश्यकता नही।

आचार्य तुलसी धर्म की बात तो करते है परन्तु वह धर्म विशेषणहीन है। वह है अणुव्रत। धर्म के पीछे जो परम्पराए, उपासनाए और क्रियाकांड है, उन सबको अणुव्रत के साथ नही जोड़ा गया, क्योकि ये झगड़ो के निमित्त बन जाते है।

आस्था का प्रश्न

एक सेठ के यहा रसोइया था। उसका तिलक सेठ जी की तरह नही होता था। सेठजी सीधा तिलक निकलते थे और वह तिरछा तिलक करता था। सेठ ने उसे समझाया कि तिलक सीधा निकाला करो लेकिन रसोइया अपने विश्वास और सिद्धान्त पर अटल था। एक दिन सेठ ने धमकी देते हुए कहा— कल यदि सीधा तिलक नही निकाला तो नौकरी से निकाल दूंगा। दूसरे दिन रसोइया आया तो ललाट पर फिर तिरछा ही तिलक लगा था। सेठ ने डाटते हुए कहा—"मेरी आज्ञा नही मानकर फिर वही तिरछा तिलक किया है इसलिए अपना हिसाब कर लो।" रसोइए ने कहा—"मैने तिलक सीधा किया है।" सेठ ने पूछा—"कहाँ है वह सीधा तिलक ?"

रसोइए ने कमीज हटाकर पेट पर बने सीधे तिलक को दिखाते हुए कहा—"ललाट का तिलक मेरा विश्वास है और पेट के लिए नौकरी करता हू इसलिए आपका तिलक पेट पर है।"

आज धर्म का प्रश्न तिलक, चोटी, नमाज आर उपासना मे ही उलझ गया है। जहां हमारे जीवन की पवित्रता का प्रश्न है, जीवन-सघर्ष मे जहा जूझने का सवाल है वहा हमने मूल लक्ष्य को भुला दिया। अशिक्षा के साथ जीविका का प्रश्न जुड़ा हुआ है

किन्तु जीवन-सग्राम मे जूझने की शक्ति धर्म ही देता है । अपने परिवार और कुटुम्ब के साथ सामजस्य स्थापित करना धर्म के द्वारा ही सीखा जा सकता है । सामंजस्य-स्थापना की मनोवृत्ति धर्म के द्वारा विकसित होती है ।

आवश्यक है सयम

स्कूल कॉलेजो मे शारीरिक एव बौद्धिक विकास होता है किन्तु बौद्धिक विकास के बाद भी कुछ विकास करना है । वह है चेतना का विकास । चेतना के विकास की कल्पना तक बौद्धिक नही कर सकता है । चेतना के विकास के सन्दर्भ मे ही अणुव्रत की बात कही गई । व्रत आच्छादन है, सुरक्षा है । मकान की छत धूप, वर्षा, सर्दी आदि से सुरक्षा करती है, वैसे ही जीवन एव मानसिक सघर्ष के समय व्रत ही उसे बचा सकता है । धर्म का मतलब ही है व्रत । यह हमारे जीवन की वह छत है जो हमे अनेक समस्याओ से बचा सकती है । व्रत का मूल है संयम । दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० गागुली ने कहा कि हमने छात्र-जीवन मे सयम सीखा, किन्तु आज छात्रो मे सयम की बात करे तो उपहास होता है लेकिन सयम आवश्यक है । अणुव्रत का घोष है—सयम ही जीवन है । हमारा जीवन सयमित होना चाहिए । खाने, पीने, बोलने, चलने—सबमे सयम अपेक्षित है । गीता, आगम, त्रिपिटक सबमे सयम की बात कही है । धार्मिक वही है, जो सयमी है । आज सयम की बाते कम सुनाई जाती है । राजनैतिक दलो के नेता भी असयम का ही पाठ पढ़ाते है ।

अणुव्रत का दीप

छात्रो को धर्म-निरपेक्षता की बात कहकर सयम-साधना की शिक्षा से वंचित रखा जा रहा है । शिक्षा की अनेक शाखाए है किन्तु सयम की शाखा नही है । यदि यही स्थिति रही और शिक्षालयो मे सयम की शिक्षा नही दी गई तो उच्छृखलता और भी बढ़ेगी । यदि यही स्थिति रही तो भारत का रहा-सहा गौरव भी मिटता जायेगा । आज अमेरिका, जर्मनी, ब्रिटेन, जापान आदि देशो मे योग विद्या का अनुसधान हो रहा है क्योकि वे भौतिकता के परिणामो से सत्रस्त हो चुके है । अच्छा होगा यदि पहले ही हम सयम मार्ग को अपनाकर आनेवाले नये भौतिक परिणामो से वच सके । शिक्षा देनेवालो का कर्तव्य है कि वे अपने छात्र-छात्राओ को शिक्षा की अन्य बातो के साथ-साथ धर्म और सयम की बात भी वताए ।

सारी सस्कृति अधकार की अमा के बीच से गुजर रही है । इसमे अणुव्रत ही आलोक देगा और मानसिक शान्ति भी । घोर अमावस्या की रात्रि मे आज अणुव्रत दीप की आवश्यकता है ।

विशेषणहीन धर्म

आज का विद्यार्थी धर्म से बहुत कम परिचित है। साम्प्रदायिकता के कारण वह धर्म के नाम से सहमता है। यह माना जाने लगा कि धर्म की बात सोलहवी शताब्दी की है किन्तु ऐसा मानना भूल है। साम्प्रदायिकता ने मनुष्य का अनिष्ट जरूर किया है किन्तु मौलिक धर्म जीवन की पवित्रता है। बौद्धिकता के उपरान्त भी स्वतत्र चेतना का जागरण धर्म ही करता है। पानी मे गध आ सकती है किन्तु केवल इसीलिए पानी पीना नही छोड़ा जा सकता है। उसे साफ और शुद्ध करके पीया जाता है। इसी प्रकार धर्म के नाम पर या धर्म के साथ गदगी अथवा साम्प्रदायिकता आयी है तो उसे मिटाकर शुद्ध कर सकते है लेकिन धर्म के नाम से भागने, सहमने और घबराने की आवश्यकता नहीं।

आचार्य तुलसी धर्म की बात तो करते है परन्तु वह धर्म विशेषणहीन है। वह है अणुव्रत। धर्म के पीछे जो परम्पराए, उपासनाएं और क्रियाकांड है, उन सबको अणुव्रत के साथ नही जोड़ा गया, क्योकि ये झगड़ो के निमित्त बन जाते है।

आस्था का प्रश्न

एक सेठ के यहां रसोइया था। उसका तिलक सेठ जी की तरह नही होता था। सेठजी सीधा तिलक निकलते थे और वह तिरछा तिलक करता था। सेठ ने उसे समझाया कि तिलक सीधा निकाला करो लेकिन रसोइया अपने विश्वास और सिद्धान्त पर अटल था। एक दिन सेठ ने धमकी देते हुए कहा— कल यदि सीधा तिलक नही निकाला तो नौकरी से निकाल दूंगा। दूसरे दिन रसोइया आया तो ललाट पर फिर तिरछा ही तिलक लगा था। सेठ ने डाटते हुए कहा—"मेरी आज्ञा नहीं मानकर फिर वही तिरछा तिलक किया है इसलिए अपना हिसाब कर लो।" रसोइए ने कहा—"मैने तिलक सीधा किया है।" सेठ ने पूछा—"कहाँ है वह सीधा तिलक ?"

रसोइए ने कमीज हटाकर पेट पर बने सीधे तिलक को दिखाते हुए कहा—"ललाट का तिलक मेरा विश्वास है और पेट के लिए नौकरी करता हू इसलिए आपका तिलक पेट पर है।"

आज धर्म का प्रश्न तिलक, चोटी, नमाज आर उपासना मे ही उलझ गया है। जहां हमारे जीवन की पवित्रता का प्रश्न है, जीवन-संघर्ष मे जहा जूझने का सवाल है वहां हमने मूल लक्ष्य को भुला दिया। अशिक्षा के साथ जीविका का प्रश्न जुड़ा हुआ है

किन्तु जीवन-संग्राम में जूझने की शक्ति धर्म ही देता है। अपने परिवार और कुटुम्ब के साथ सामजस्य स्थापित करना धर्म के द्वारा ही सीखा जा सकता है। सामंजस्य-स्थापना की मनोवृत्ति धर्म के द्वारा विकसित होती है।

आवश्यक है संयम

स्कूल कॉलेजों में शारीरिक एवं बौद्धिक विकास होता है किन्तु बौद्धिक विकास के बाद भी कुछ विकास करना है। वह है चेतना का विकास। चेतना के विकास की कल्पना तक बौद्धिक नही कर सकता है। चेतना के विकास के सन्दर्भ मे ही अणुव्रत की बात कही गई। व्रत आच्छादन है, सुरक्षा है। मकान की छत धूप, वर्षा, सर्दी आदि से सुरक्षा करती है, वैसे ही जीवन एव मानसिक सघर्ष के समय व्रत ही उसे बचा सकता है। धर्म का मतलब ही है व्रत। यह हमारे जीवन की वह छत है जो हमे अनेक समस्याओं से बचा सकती है। व्रत का मूल है सयम। दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० गागुली ने कहा कि हमने छात्र-जीवन मे संयम सीखा, किन्तु आज छात्रो मे सयम की बात करे तो उपहास होता है लेकिन संयम आवश्यक है। अणुव्रत का घोष है—सयम ही जीवन है। हमारा जीवन सयमित होना चाहिए। खाने, पीने, बोलने, चलने—सबमें सयम अपेक्षित है। गीता, आगम, त्रिपिटक सबमे संयम की बात कही है। धार्मिक वही है, जो सयमी है। आज सयम की बाते कम सुनाई जाती है। राजनैतिक दलो के नेता भी असयम का ही पाठ पढ़ाते है।

अणुव्रत का दीप

छात्रो को धर्म-निरपेक्षता की बात कहकर सयम-साधना की शिक्षा से वचित रखा जा रहा है। शिक्षा की अनेक शाखाए है किन्तु सयम की शाखा नही है। यदि यही स्थिति रही और शिक्षालयो मे सयम की शिक्षा नही दी गई तो उच्छृखलता और भी बढ़ेगी। यदि यही स्थिति रही तो भारत का रहा-सहा गौरव भी मिटता जायेगा। आज अमेरिका, जर्मनी, ब्रिटेन, जापान आदि देशो मे योग विद्या का अनुसधान हो रहा है क्योकि वे भौतिकता के परिणामो से सत्रस्त हो चुके है। अच्छा होगा यदि पहले ही हम सयम मार्ग को अपनाकर आनेवाले नये भौतिक परिणामो से वच सके। शिक्षा देनेवालो का कर्तव्य है कि वे अपने छात्र-छात्राओ को शिक्षा की अन्य बातो के साथ-साथ धर्म और सयम की बात भी वताए।

सारी सस्कृति अधकार की अमा के बीच से गुजर रही है। इसमे अणुव्रत ही आलोक देगा और मानसिक शान्ति भी। घोर अमावस्या की रात्रि मे आज अणुव्रत दीप की आवश्यकता है।

महावीर की वाणी में विश्वधर्म के बीज

भगवान् महावीर का जीवन साधना का जीवन था। उन्हे दीर्घतपस्वी कहा जाता है। भगवान् ने लम्बे समय तक तपस्या की थी। अपनी तपस्या के द्वारा उन्होने सत्य का साक्षात्कार किया था। जो व्यक्ति सत्य को नही प्राप्त करता, उस व्यक्ति के विषय मे हमारी कोई श्रद्धा नही हो सकती। कम-से-कम एक सत्य-जिज्ञासु के मन मे उसके प्रति बहुत आदर भाव नही हो सकता। भगवान् ने सत्य को सबसे अधिक महत्त्व दिया था और सत्य ही उनके लिए परम तत्त्व था। सत्य की जिज्ञासा उनमे प्रबल प्रज्वलित थी इसलिए महावीर और सत्य— ये दोनो पर्यायवाची जैसे शब्द बन गए। महावीर यानी सत्य और सत्य यानी महावीर। उनकी महावीरता सत्य में से प्रकट हुई थी। यदि महावीर मे सत्य का आग्रह नही होता तो वे वीर होते किन्तु उनका वीरत्व और पराक्रम दूसरो के सहार मे खप जाता। महावीर का सारा पराक्रम, शक्ति और विक्रम सत्य की शोध मे खपा क्योकि वे सत्यनिष्ठ थे। इसलिए उन्होने कहा—"सच्चमि धिइ कुव्वहा"—पुरुष! तू सत्य मे धैर्य कर। यदि सत्य को पा लिया तो तूने सब कुछ पा लिया। यदि सत्य को नही पाया तो तूने कुछ भी नही पाया।

सत्य शोध की पद्धति

सत्य की शोध के लिए उन्होने एक पद्धति का अनुसन्धान किया, जिसका नाम है—अनेकान्तवाद या स्याद्वाद। भारतीय दर्शन के प्रागण मे जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा मे अनेक आचार्य हुए है। किन्तु सत्य के सन्धान की पद्धति का सर्वागीण निरूपण जो भगवान् महावीर ने किया, वह सर्वत्र समादरणीय है। भगवान् महावीर के निरूपण का सर्वाधिक मूल्य इसीलिए है कि उन्होने कहा—'सत्य को कही सीमित मत करो। सम्प्रदाय, जाति और वर्ग मे सत्य को बाधो मत, और उसे एक दृष्टि से मत देखो। जब तुम एक दृष्टि से सत्य को देखोगे तो तुम्हारा वह सत्य असत्य बन जाएगा। जब तुम सत्य को अनेक दृष्टियो से देखोगे तो तुम्हारा असत्य भी सत्य बन जाएगा।' असत्य को सत्य बनाने वाले लोग दुनिया मे बहुत कम होते है और सत्य को असत्य बनाने वाले लोग दुनिया मे बहुत होते है। महावीर ने जो पद्धति हमारे सामने पुरस्कृत की, उसके द्वारा असत्य को भी हम सत्य बना सकते है, बशर्ते कि हमारा दृष्टिकोण व्यापक हो और हम वस्तु

को विविध पहलुओ से देख सके, परख सके । इसलिए महावीर के द्वारा प्रतिपादित धर्म विश्वधर्म है ।

जाति के प्रतिबध से मुक्त

वर्तमान युग के अनेक विचारक और दार्शनिक इस बात के लिए उत्सुक है कि दुनिया मे एक धर्म होना चाहिए । महावीर ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया, उसके लिए कर्नाटक प्रदेश के महान् आचार्य समन्तभद्र ने लिखा—"सर्वोदय तीर्थमिद तवैव"—भगवन् ! तुम्हारा शासन सर्वोदय है । विश्वधर्म वह हो सकता है, जो सबका उदय कर सके । जिसमे अमुक वर्ग का उदय करने की क्षमता हो यानी जो अमुक के लिए हो, वह सर्वोदय नही हो सकता और जो सर्वोदय है । विश्वधर्म वह हो सकता है जा सबका उदय कर सके । जिसमे अमुक वर्ग का उदय करने की क्षमता हो यानी जो अमुक के लिए हो, वह सर्वोदय नही हो सकता और जो सर्वोदय नही हो सकता, वह विश्वधर्म की योग्यता को भी प्राप्त नही कर सकता । विश्वधर्म की योग्यता उसी मे आ सकती है, जो किसी एक का नही है । यदि महावीर का धर्म केवल जैनो के लिए होता है तो उसमे विश्वधर्म होने की कोई क्षमता नही होती । यदि महावीर का धर्म ओसवाल, अग्रवाल, खडेवाल आदि जातियो के लिए है तो उसमे विश्वधर्म होने की क्षमता नही है । महावीर ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया, उस धर्म मे जाति का कोई प्रतिबन्ध नही है ।

सबका मार्ग

जम्बूस्वामी ने सुधर्मास्वामी से पूछा—"कयरे मग्गे अक्खाए"—भन्ते ! महावीर ने कौन-सा मार्ग बतलाया है जिससे हम अपने लक्ष्य तक पहुॅच सकते है ? यह मै जानना चाहता हू । सुधर्मास्वामी महावीर के तत्त्वज्ञान के उस समय के सबसे बड़े प्रवक्ता थे । उन्होने शान्तभाव से कहा—"जम्बू ! पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस—ये छ प्रकार के जीव है । दुनिया मे इनके अतिरिक्त कोई अन्य जीव नही !" कोई भी जीव दु ख नही चाहता । किसी को भी दु ख प्रिय नही है । हर प्राणी सुख चाहता है । इसलिये किसी भी जीव की हिसा न की जाए । यह महावीर का मार्ग किसका नही है ?

क्या कोई भी व्यक्ति इस बात को अस्वीकार कर सकता है कि प्राणिमात्र के साथ अपनी आत्मानुभूति, तादात्म्य और एकात्मकता की स्थापना किए बिना हम धार्मिक हो सकते है ? इस जीवन मे तो क्या किसी भी जीवन मे नही हो सकते । जब तक प्राणिमात्र के साथ हमारी एकात्मकता की अनुभूति नही होती, तब तक हमारे जीवन मे धर्म का बीज अकुरित, पल्लवित और पुष्पित नही हो सकता । धार्मिक होने की सबसे पहली शर्त है कि प्राणिमात्र के साथ एकात्मकता की अनुभूति करना और उनके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करना । यह है महावीर के द्वारा प्रतिपादित मार्ग ।

पुन प्रश्न खड़ा हुआ और सुधर्मास्वामी से पूछा गया— महावीर ने धर्म का

प्रतिपादन किसके लिए किया है ? क्या अपने अनुयायियों के लिए किया ? क्या जैनों के लिए या किसी अन्य वर्ग के लिए किया ? किसके लिए ? इसका क्या उत्तर हो सकता है ? महावीर ने जब धर्म का प्रतिपादन किया तब उनका कोई अनुयायी था ही नही। उनकी पहली सभा मे, जिसमे उन्होंने धर्म का उपदेश दिया, कोई मनुष्य भी सुनने वाला नही था। उन्होने जो सत्य देखा उसका निरूपण कर दिया। किसके लिए किया, इसके उत्तर मे कहा गया—भगवान् ने किसी एक प्राणी के लिए धर्म का प्रतिपादन नही किया किन्तु कोई प्राणी किसी प्राणी को नही मारे इसलिए भगवान ने धर्म का प्रतिपादन किया।

यह है धर्म का विस्तृत और व्यापक दृष्टिकोण। उनका धर्म किसी वर्ग विशेष के लिये नही है। महावीर का धर्म उस व्यक्ति के लिये है, जो किसी भी जीव की हिसा नही करता और किसी भी जीव को पीड़ित नही करता। किसी भी प्राणी को मत मारो, किसी भी प्राणी को मत सताओ, किसी भी प्राणी को अपना दास मत बनाओ, किसी भी प्राणी पर हुकूमत मत करो और किसी भी प्राणी को अपने अधीन मत रखो।' यह मेरा धर्म है। यह महावीर का धर्म, जिसे हम शाश्वत तथा व्यापक धर्म कह सकते है, कितना सर्वोदयी है ?

कुलकर से राजतत्र तक

वर्तमान की दुनिया मे स्वतत्रता का जितना मूल्याकन हुआ है, शायद पिछले किसी भी युग मे नही हुआ। हम आदिकाल से ले। आदिकाल का इतिहास एक वनवासी इतिहास है। मनुष्य सामाजिक नही था, जगल मे रहता था। जब से वह सामाजिक बना और समाज मे रहने लगा, हमारे यहां कुलकर की पद्धति शुरू हुई। शासन कौटुम्बिक व्यवस्था के रूप मे चलता था। कुटुब का मुखिया सब कुछ होता था। वह यदि चाहता तो किसी को मार भी सकता था। उत्तराधिकार कुटुम्ब का चलता था। सारी कौटुम्बिक पद्धति चलती थी। फिर उसका विकास हुआ तो राजतत्र आया। राजतत्र मे राजा को सर्वाधिकार दिया गया। उसे इतने अधिकार दिए गए कि राजा को ईश्वर का रूप और अवतार मान लिया गया। राजा जो चाहता कर सकता था। उसे सब कुछ करने का अधिकार था।

दास प्रथा का युग

आरम्भ के इतिहास से लेकर राजतत्र के इतिहास तक स्वतत्रता नाम की कोई चीज नही थी। स्वतत्रता का कोई विशेष मूल्य नही था। हमारे यहा 'बेगार' ली जाती थी, कौटलीय अर्थशास्त्र और जैन साहित्य में जिसे 'वेष्टि' कहा गया है। जिस व्यक्ति के मन में आया कि इससे काम लेना है, उसे दाम देने की कोई बात नही, मूल्य चुकाने की कोई बात नही, उसके जीवन-निर्वाह की चिन्ता की कोई बात नही, किन्तु उससे काम लेना सरकार या राज्य का अधिकार था। अत एक बैल से जैसे काम लिया जाता है

उसी प्रकार आदमी से काम लिया जाता था। हिन्दुस्तान मे दास प्रथा चालू थी। आदमी आदमी को खरीद लेता था और दास बना लेता था। आज के नौकर की दास से तुलना नही की जा सकती। अगर आप थोड़ी-सी ऑख दिखाए तो आज का नौकर नौकरी छोड़कर जा सकता है, किन्तु दास नही जा सकता था। दास इतना अधीन होता कि मालिक एक कुत्ते के साथ जैसा व्यवहार कर सकता है वैसा वह दास के साथ कर सकता था। आज तो शायद वह कुत्ते को मार नही सकता किन्तु उस समय वह दास को मार सकता था। उसके नाक-कान काट लेता, जीभ निकाल लेता, जीभ पर शीशा उबालकर डाल देता और उसके टुकड़े-टुकड़े भी कर सकता था। एक आदमी दूसरे आदमी के साथ इतना क्रूर और निर्दय व्यवहार कर सकता था कि उसे कोई कहने वाला नही था। वह थी हमारी परतत्रता की स्थिति। आदमी इतना परतत्र था कि कुछ बोल भी नही सकता था।

आज कितना विकास हुआ है ? पराधीनता कितनी समाप्त हो गई है ? आज कोई भी बड़े-से-बड़ा शासक खुला अत्याचार नही कर सकता। छिपकर करता है तो भी उसकी इतनी तीव्र आलोचना और भर्त्सना होती है कि शायद उसे अपना त्यागपत्र देने के लिए भी बाध्य होना पड़ सकता है।

स्वतत्रता पर बल

आज के जनतत्र की विशेषता है—स्वतत्रता। हमारे भारतीय साहित्य और इतिहास मे स्वतत्रता पर भगवान् महावीर ने आरभ से जितना बल दिया, मै समझता हू उतना अन्यत्र कम मिलेगा। भगवान महावीर का मूल प्रतिपादन था—'पुढो सत्ता' यानी हर व्यक्ति का स्वतत्र अस्तित्व है। तुम्हे दूसरे की स्वतत्रता को कुचलने का कोई अधिकार नही है। बाप को यह अधिकार नही कि बेटे पर वह शासन करे। महावीर ने यहां तक कह दिया—आचार्य को भी शिष्य पर बल-प्रयोग से शासन करने का अधिकार नही है। हमारे यहॉ पर 'इच्छाकारेण' का प्रयोग होता है। महावीर ने कहा—"आचार्य भी शिष्य के लिए 'इच्छाकारण' का प्रयोग करे। तुम्हारी इच्छा हो तो यह काम करो न कि तुम्हे यह करना पड़ेगा। स्वतत्रता को कितना मूल्य दिया गया है। एक व्यक्ति महावीर के पास आता और कहता— भगवान्! मै यह काम करना चाहता हू। हजार स्थलो पर आगम सूत्रो मे महावीर कहते है—'अहासुह देवाणुप्पिया'—'देवानुप्रिय! तुम्हे जैसा सुख हो, वैसा करो।' कही भी नही कहा गया— तुम्हे यह काम करना पड़ेगा। महावीर ने व्यक्ति की स्वतत्रता, उसकी आत्मचेतना और उसके स्वतत्र अस्तित्व को प्रदीप्त और प्रज्वलित करने मे एक ऐसा वातावरण और अवसर दिया कि व्यक्ति अपने सहारे खड़े हो। बैसाखी के सहारे लंगड़ाते हुए चलने का उन्होने कभी किसी को प्रोत्साहन नही दिया।

महावीर की प्रमुख देन

स्वतत्रता का घोष जो महावीर ने प्रदीप्त किया, आज के जनतत्र मे वह क्रियान्वित

हो रहा है। ऐतिहासिक वातावरण मे कोई भी सिद्धान्त जो फलित होता है या चालू होता है, उसके पीछे वर्तमान की पृष्ठभूमि होती है। महावीर गणतंत्र के युग मे जन्मे थे। वह वैशाली का गणराज्य था। वैशाली का गणराज्य आज के जनतत्र जैसा नही था, फिर भी वहा स्वतत्रता का वातावरण था। उनमे राजा कोई नहीं था। उनका मुखिया था महाराज चेटक। सभी सामन्त मिलकर राज्य की व्यवस्था करते थे। एक व्यक्ति का शासन नही था। उन सस्कारो मे पले महावीर ने जो सस्कार दिये, उनमे से उस राज्य को वल मिला, पुष्टि मिली और गणनत्र का विकास हुआ। स्वतत्रता महावीर की प्रमुख देन है।

समता धर्म का प्रतिपादन

महावीर ने दूसरी सवसे वड़ी वात समानता की दी। समता का विकास जितना महावीर के आस-पास हुआ और उन्होने उस पर जितना बल दिया, वह बहुत ही स्मरणीय है। महावीर के धर्म का नाम क्या था? आज लोग कहते है—जैन धर्म। किन्तु एक ऐसा युग था, जब जैन धर्म नाम नही था। हमारे पुराने साहित्य मे जैन धर्म जैसा नाम नही मिलता। महावीर के धर्म का नाम था सामायिक धर्म—समता का धर्म। सूत्रकृताग सूत्र मे बतलाया गया—'समया धम्म मुदाहरे मुणी'—महावीर ने समता के धर्म का प्रतिपादन किया। उसी सूत्र मे आगे वतलाया गया—एक चक्रवर्ती सम्राट् दीक्षित होता है और एक चक्रवर्ती के दास का दास, उससे पहले दीक्षित हो जाता है तो चक्रवर्ती का यह धर्म है कि अपने दास का दास जो पहले दीक्षित हो चुका है, के चरणो मे वह गिर जाए। वह यह नही सोचे कि मै चक्रवर्ती इसका मालिक था और यह तो मेरे दास का भी दास था। यह सोचना विषमता की बात है। महावीर के शासन मे ऐसा नही हो सकता। यह समता का प्रतिपादन सामायिक का प्रतिपादन है। कहा जा सकता है—जो समता को नही जानता, सामायिक को नही जानता, वह महावीर के शासन को नही जानता। धर्माचरण मे सबसे पहला स्थान सामायिक का है। हर श्रावक के लिए विधान है कि वह सामायिक करे। साधु के लिये विधान है कि साधु वही हो सकता है, जो सामायिक करता है। मुझे नही मालूम कि समता की साधना करने वाली सामायिक कौन करता है या नही करता है। रूढ़ि तो चलती है। एक मुहूर्त के लिए बैठ जाते है, मुह बॉध लेते है, हाथ मे प्रमार्जिनी भी ले लेते है पर समता की आराधना कितनी करते है, इसका पता नही। श्रावक के लिये, हर जैन के लिए या महावीर को माननेवाले हर व्यक्ति के लिए यह आवश्यक था कि वह कम से कम दिन मे एक या दो बार समता की आराधना करे।

प्रश्न है सत्य का

आज वह समता की आराधना शायद क्रियाकाण्ड मे बदल गई। उसका हार्द छूट गया। विषमता का भाव रखनेवाला कोई भी महावीर के धर्म को समझने वाला नही हो

सकता। आनन्द एक उपासक-श्रावक था और गौतम थे भगवान महावीर के सबसे बड़े शिष्य और पहले गणधर। वे चौदह हजार साधुओ में सबसे ज्येष्ठ थे। गौतम आनन्द के घर गए।

आनन्द ने कहा—"भन्ते ! मुझे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है और मै इतना लोक देख रहा हूं। क्या श्रावक को ऐसा हो सकता है ?"

गौतम ने कहा—'हो सकता है, पर इतना बड़ा नही।"

"भन्ते ! मुझे ऐसा हो रहा है और मै साक्षात् देख रहा हू।"

"यह गलत वात है। ऐसा नही हो सकता है। आनन्द ! अनशन मे तुम झूठ बोल रहे हो। अत तुम्हे प्रायश्चित्त करना चाहिए।"

आनन्द ने कहा—"भन्ते ! प्रायश्चित्त जो झूठ बोले उसे करना चाहिए या सत्य बोले उसे ?"

गौतम ने कहा— "जो झूठ बोले उसे करना चाहिए।'

आनन्द ने कहा—"तो भन्ते ! प्रायश्चित्त आपको ही करना होगा।"

गौतम के मन मे छटपटाहट हो गई। वे महावीर के पास आए और बोले—"भन्ते ! आज मै आनन्द के पास गया था। उसने किहा कि मुझे इतना अवधिज्ञान हुआ है और मैने कहा कि इतना हो नही सकता। भन्ते ! वह झूठा है या मै ?" भगवान् ने कहा— "तुम झूठे हो। जाओ, आनन्द से क्षमायाचना करो।"

अगर कोई थोड़ी-बहुत विषमता की दृष्टिवाला होता तो कहता कि 'चलो, कोई बात नही, बड़े शिष्य हो, जैसा कह दिया, ठीक है।' किन्तु महावीर के मन मे समता का इतना विकास था कि उनके सामने गौतम और आनन्द का प्रश्न नही था। सारा प्रश्न सत्य का था। सत्य के सामने गौतम गौतम नही था और आनन्द आनन्द नही था।

कल्पातीत व्यक्तित्व की कल्पना

यह समतावादी दृष्टिकोण, जिस पर महावीर ने इतने विस्तार से विचार किया, गुरुदेव तुलसी ने नई शैली मे प्रतिपादित करना शुरू किया। उन विचारो को थोड़ा-सा मैने लिखा। वह लेख छपा तो हमारे कई जैन बधुओ मे बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई कि महाराज तो साम्यवादी हो गए। मुझे लगा कि क्या साम्यवाद महावीर के सिद्धान्त तक पहुंच सकता है ? जिस साम्यवाद मे शासन की सारी व्यवस्था एकाधिनायकवाद, डिक्टेटरशिप की है, जहा दूसरे की जबान पर ताला लगा दिया जाता है, क्या वहा समता की बात हो सकती है ? समता की बात वहा हो सकती है जहा व्यक्ति को इतनी उन्मुक्तता हो कि प्रतिबध नाम की कोई चीज न हो। आप कहेगे कि क्या साधु के प्रतिबन्ध नही है ? पर यह ज्ञात होना चाहिए कि महावीर ने जो साधना की भूमिका प्रस्तुत की उसमे एक शब्द का प्रयोग किया है—कल्पातीत। कल्पातीत यानी शासनविहीन राज्य जिसकी कल्पना मार्क्स ने की थी। कल्पातीत के लिए कोई कल्प नही होता। हमारी साधना की एक वह स्थिति

आती है जहा शास्त्र की सारी मर्यादाए समाप्त हो जाती है। कल्पातीत के लिये कोई शास्त्र नही होता। हम लोग कोई काम करते है तो लोग कहते है कि शास्त्र मे तो ऐसा लिखा है किन्तु कल्पातीत को कोई कहने वाला नही है कि शास्त्र मे ऐसा नही लिखा है। वह स्वय शास्त्र होता है। कल्पातीत के लिये कोई वचन और नियम नही होता। हम लोग तो आज एक स्थान पर एक महीना रह सकते है। चातुर्मास मे चार महीना रहते है। कल्पातीत एक जगह पचास वर्ष रह जाए तो भी उसे कोई कहने वाला नही है कि तुम क्यो रहते हो ? सारी मर्यादाए, सारे शास्त्र, विधान और अनुशासन समाप्त कर स्वय के अनुशासन से ही वह स्वय का सचालन करने वाला होता है। यह है राज्यविहीन स्थिति। यह साधना की उत्कृष्ट भूमिका है, उसे कहा गया है—कल्पातीत। महावीर के सिद्धान्त का, क्रिया का, आचार का, साधना की पद्धति का, उन्मुक्तता का जो विकास है, वह है कल्पातीत की ओर जाने की प्रक्रिया। इस प्रकार महावीर की दूसरी सबसे बड़ी बात थी—समानता।

प्रामाणिकता

महावीर की तीसरी बात है—प्रामाणिकता। आज महावीर के धर्म को हमने भुला दिया। आज महावीर के अनुयायी और कुछ करते है या नही पर महावीर की पूजा जरूर करते है। पर आपको आश्चर्य होगा कि महावीर ने कही भी शायद अपनी वाणी मे नही कहा कि किसी की पूजा करो। उपासना धर्म का उन्होंने प्रतिपादन नही किया। उन्होने केवल आचार-धर्म का, नीतिधर्म का प्रतिपादन किया।

यदि नैतिकता को, प्रामाणिकता और चरित्र को निकाल देगे तो महावीर का धर्म समाप्त हो जाएगा। उपासना तो बहुत बाद मे चली है। महावीर की वाणी को हमने देखा किन्तु आज तक एक भी वाक्य नही मिला कि उपासना की जाए या क्रियाकाण्ड किए जाए। केवल आचार-धर्म और चरित्र-धर्म ही वहा प्राप्त होता है। मोक्ष के तीन मार्ग बतलाए है—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। इनमे उपासना की बात कहा है ? महावीर ने स्वतत्रता, समानता और प्रामाणिकता—ये तीन ऐसे दृष्टिकोण हमारे सामने प्रस्तुत किए थे, जिनके आधार पर महावीर के धर्म को विश्वधर्म का रूप दिया जा सकता है। उनका सारा प्रतिपादन सबके लिये था, विश्व के लिये था। उसमे कही भी कोई रेखा या भेद जैसी चीज नही थी।

बिज्जल और बसवेश्वर

आज हमारी कठिनाई यही है कि जैन एक समाज बन गया। जैन एक जाति बन गई और महावीर का धर्म उसमे बध गया। हम लोग धारवाड़ मे कर्नाटक युनिवर्सिटी मे गए। वहा के वाइस चासलर और रजिस्ट्रार हमारे साथ थे। उन्होने दो-चार-छोटी-सी पुस्तके हमे दी। हम उन्हे लेकर स्थान पर आए। उनमे 'महात्मा बसवेश्वर' नामक

एक पुस्तक थी। उसमे बसवेश्वर के बारे मे पढ़ा तो मन पर एक प्रतिक्रिया हुई। राजा बिज्जल जैन था और बसवेश्वर शैव थे। बसवेश्वर ने अन्तर्जातीय विवाह करवाया और राजा ने उसको व सम्बन्धित व्यक्तियो को कुचल डाला। महावीर का सिद्धान्त था कि जातिवाद को अस्वीकार करो। बसवेश्वर अस्पृश्यता और जातिवाद को मिटाने के लिए तत्पर थे। जो जैन लोग थे वे कुछ जातिवाद का समर्थन कर रहे थे। मुझे लगा कि कुछ लोगो मे जैन धर्म की जो रूढ़ता आ गई थी, उसकी प्रतिक्रिया मात्र बसवेश्वर के मन मे थी। रजिस्ट्रार ने बसवेश्वर के कई वाक्य सुनाए। उन्होने कहा—बसबेश्वर का पहला वाक्य है—'क्रोध मत करो।' साथ-साथ मै भी महावीर की वाणी को दोहराता गया—'कोह असच्च कुव्वेज्जा।' उन्होने कहा—बसवेश्वर का दूसरा वाक्य है—किसी की निन्दा मत करो। मैने कहा—महावीर का है—"पिट्ठिमसन खाएज्जा"—दूसरे की चुगली मत करो। एक-एक वाक्य हम बोलते गये। ऐसा लगा कि सिद्धान्तो मे कही कोई अन्तर नही है। केवल प्रतिक्रिया थी और उस प्रतिक्रिया के कारण सारा का सारा ऐसा हुआ।

विश्वजनीन सिद्धांत

महावीर ने जो सिद्धान्त दिए थे, वे किसी को लक्ष्य मे रखकर नही दिए थे कि अमुक वर्ग को देना है। सौभाग्य या दुर्भाग्य कुछ भी कहे, जो इतना व्यापक धर्म था, वह एक जाति के रूप मे बदल गया यानी जैन एक जाति बन गई। जैन कोई जाति नही हो सकती। एक मुसलमान भी जैन हो सकता है, ईसाई भी जैन हो सकता है, हिन्दू भी जैन हो सकता है। क्योकि जैन कोई जाति नही है। आचार्य तुलसी बहुत बार कहते है कि 'जैन धर्म' को मै जन धर्म बनाना चाहता हू। विनोबाजी ने एक बार बहुत सुन्दर कहा था कि 'जैन धर्म अपने दया, अहिसा, प्रेम और मैत्री को व्यापक बनाकर दूसरो मे खप जाए तो भी वह कोई हानि नही होगी।' यह बहुत सुन्दर और गहरी बात थी। ये विश्वजनीन और सार्वजनीन सिद्धात तथा इन्हे देखने की अनेकान्तदृष्टि, इस सारे चक्रव्यूह को लेकर हम विचार करे तो कि महावीर का धर्म बहुत व्यापक था।

उदार दृष्टि

यह उस समय की बात थी जब किसी से पूछा जाता हमारी मुक्ति कब होगी ? तो कहा जाता—'सए सए उवट्ठाणे'—मेरे उपस्थान मे आ जाओ, तुम्हारी मुक्ति हो जाएगी। पुन प्रश्न होता कि तुम्हारे सम्प्रदाय मे नही आए तो ? उत्तर मिलता—'सिद्धिमेव न अन्नहा'—अन्यथा तुम्हारी सिद्धि नही होगी। यानी मेरे सम्प्रदाय मे आओ तो तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा तुम्हारी मुक्ति नही होगी। मेरे कुए का पानी पीओ तो तुमहारी प्यास बुझेगी अन्यथा नही बुझेगी। मेरे घर मे आओ तो तुम्हे प्रकाश मिलेगा, बाहर रहो तो नही मिलेगा।

महावीर से पूछा गया—'भन्ते ! क्या अन्यलिगी यानी आपके शसन को नही माननेवाला, उससे बाहर भी कोई साधु या सन्यासी है ? क्या वह मुक्त हो सकता है ?'

महावीर ने कहा—हो सकता है । यदि सम्यग्-दर्शन, ज्ञान और चरित्र आए तो किसी भी शासन मे रहकर वह मुक्त हो सकना है । उसे 'अन्यलिगसिद्ध' कहा गया यानी दूसरे सम्प्रदाय मे मुक्त होने वाला ।''

महावीर से पूछा गया—''क्या मुक्त होने के लिये साधु होना जरूरी है ? क्या कोई गृहस्थ के वेश मे मुक्त नही हो सकता ?'' महावीर ने कहा—''हो सकता है, यदि वास्तव मे साधु बन जाए, चाहे वेश गृहस्थ का हो ।'' इसे 'गृहलिगसिद्ध' कहा गया यानी गृहस्थ मे सिद्ध होने वाला ।

महावीर से पुन पूछा गया—''भन्ते ! क्या धर्म की विधिवत् उपासना करने वाला ही मुक्त होता है या और भी कोई मुक्त हो सकता है ?'' उन्होने कहा—''आत्मा की पवित्रता हो जाए तो विधि-विधानो की कोई जरूरत नही । इनके बिना भी मुक्त हो सकता है ।'' इस प्रकार सिद्ध होने वाले को उन्होने 'असोच्चाकेवली' कहा । 'असोच्चाकेवली' यानी अश्रुत्वा केवली । आप आश्चर्य करेगे कि जिस व्यक्ति ने अपने जीवन मे धर्म का एक शब्द नही सुना, जो व्यक्ति नही जानता, कि धर्म किसे कहते है, जो धर्म की व्याख्या और परिभाषा करना नही जानता वह व्यक्ति अपने जीवन मे मुक्त हो जाता है, केवली और सर्वज्ञ बन जाता है ।

विश्वधर्म का प्रतिपादन

यह है दृष्टि की उदारता । यदि कोई सकीर्ण व्यक्ति होता तो कहता—गृहस्थ जीवन मे मुक्त नही हो सकता । मेरे सम्प्रदाय के सिवाय दूसरे समप्रदाय मे कोई मुक्त नही हो सकता । और धर्म के विधि-विधानो, क्रियाकाण्डो को करनेवाला मुक्त नही हो सकता है किन्तु'अन्नलिगसिद्धे', 'गिहलिगसिद्धे' और 'असोच्चाकेवली'—ये तीन शब्द इतने व्यापक है जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि महावीर की वाणी मे विश्वधर्म के प्रतिपादन की क्षमता है ।

इतने विशाल, व्यापक और महान् सिद्धान्त के व्याख्याता, प्रवक्ता और अनुशास्ता भगवान महावीर हुए । उन्हे समझना मेरे जैसे व्यक्ति के लिए तो इतना दुर्लभ है कि जैसे-जैसे मै महावीर को पढ़ता जाता हू, ऐसा लगता है कि नई-नई समस्याए सामने उभरती जाती है । समस्या के समाधान के लिए पढ़ता हू तो पचास समस्याए और नई सामने खड़ी हो जाती है ।

महावीर के अनन्त चक्षुओ और अनन्त दृष्टियो को समझने के लिये मुझे भी कोई ऐसी दृष्टि प्राप्त हो । जिससे इस दुर्गम दुर्ग को हटाकर, सरलता से उनके पास जाने का अवसर मिल सके ।

मिट्टी है, स्थूल वस्तु है और अवाछनीय है ।'

"प्राचीन सभयता मनुप्यो को जीवन की उच्चतर साधनाओ—ईश्वरीय प्रेम, पड़ोसी का आदर और आत्मा की उपस्थिति का भान की ओर देखने की प्रेरणा करती थी। जितने ही शीघ्र लोग उस जीवन की ओर लौट जाये उतना ही अच्छा है ।"[1]

आध्यात्मिक राम

गाधीजी ने राम का नाम बहुत बार लिया और वे प्रार्थना सभाओ मे "रघुपति राघव राजा राम पतित पावन सीता राम" की धुन भी लगाया करते थे, किन्तु उनका आध्यात्मिक राम दूसरा है । उसकी गहराई तक जाने का प्रयत्न बहुत कम हुआ है—

"हम जिस राम के गुण गाते है, वे राम वाल्मीकी के राम नही है, तुलसी "रामायण" के राम भी नही है । हालाकि तुलसीदास की रामायण मुझे अत्यन्त प्रिय है और उसे मै अद्वितीय ग्रथ मानता हू तथा एक बार पढ़ना शुरू करने पर कभी उकताता नही, तो भी हम आज तुलसी के राम का स्मरण करने वाले नही है और न गिरधरदास के राम का। तब फिर कालिदास और भवभूति के राम का तो कहना ही क्या ? भवभूति के उत्तररामचरित्र मे बहुत सौदर्य है, कितु उसमे वे राम नही है, जिनका नाम लेकर हम भवसागर तर सके या जिनका नाम हम दुख के अवसर पर लिया करे । मै असह्य वेदना से पीड़ित व्यक्ति हू कि राम नाम लो । अगर नीद न आती हो तो भी कहता हू कि "राम नाम लो' । कितु ये राम तो दशरथ के कुवर या सीता के पति राम नही है । ये तो देहधारी राम ही नही है । जो हमारे हृदय में बसते है, वे राम देहधारी हो ही नही सकते । अगुठे के समान छोटा-सा तो हमारा हृदय और उसमे भी समाए हुए राम देहधारी क्यो कर हो सकते है ।'

जब तक हम देह की दीवार के पार नही देख सकते, तब तक सत्य और अहिसा के गुण इसमे पूरे-पूरे प्रकट होने वाले नही है । जब सत्य के पालन का विचार करे तब देहाध्यास छोड़ना ही चाहिए, क्योकि सत्य के पालन के लिए मरना जरूरी होगा । अहिसा की भी यही बात है । देह तो अभिमान का मूल है । देह के बारे मे जिसका मोह बना हुआ है, वह अभिमान से मुक्त हो ही नही सकता । जब तक मेरे मन मे यह विचार है कि देह मेरी है, तब तक मै सर्वथा हिसामुक्त हो ही नही सकता हूं । जिसकी अभिलाषा ईश्वर को देखने की है, उसे देह के पार जाना पड़ेगा, अपनी देह का तिरस्कार करना पड़ेगा, मौत से भेट करनी पड़ेगी ।'

जब ये दो गुण मिले, तभी हम तर सकेगे । ब्रह्मचर्यादि का पालन कर सकेगे । अगर उनका पालन करना चाहे तो सत्य के बिना कैसे चलेगा ? सत्य का मुकाम तो सुवर्णमय पात्र से ढका हुआ है । सत्य बोलने का सत्य का आचरण करने का डर क्यो हो । असत्य

---

१. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाधी काण्ड १० पृ २७९-८०

रूपी चमकीला ढक्कन जब तक दूर न करे तब तक सत्य की झांकी क्यो कर होगी ? कोई कसूर करे तो उस पर क्रोध करने के बदले प्रेम करना क्या हमें रुचता है, हम संसार को असार कहकर गाते है सही, मगर क्या असार समझते भी है ?"[१]

मनोबल का स्रोत

महात्मा गाधी के मनोबल का स्रोत है आत्मा की अनुभूति। उन्होने उसके आधार पर ही परिवर्तन की सभावनाओ को स्वीकार किया। हिटलर के बारे मे उन्होने लिखा—

नि शस्त्र पुरुषो, स्त्रियो और बच्चो का अपने अन्दर कोई कटुता रखे बिना अहिसात्मक प्रतिरोध करना उनके लिए एक अद्‌भूत अनुभव होगा। यह तो कौन कह सकता है कि ऊची और श्रेष्ठ-शक्तियो का आदर करना उनके स्वभाव के ही विपरीत है। उनके भीतर भी तो वही आत्मा है, जो मेरे भीतर है।

"डॉ० बेनेसको मै यही अस्त्र पेश करता हू, जो कि दरअसल कमजोरो का नही बल्कि बहादुरो का हथियार है, क्योकि मन मे किसी के प्रति कटुता न रखकर, पूरी तरह यह विश्वास रखते हुए कि आत्मा के सिवा किसी का अस्तित्व नही रहता, दुनियां की किसी ताकत के सामने—पिर वह कितनी ही बड़ी क्यो न हो—घुटने टेकने से दृढ़तापूर्वक इन्कार कर देने से बढ़कर कोई वीरता नही है।"[२]

सदर्भ अहिसा का

महात्मा गाधी के आध्यात्मिक विचारो पर गीता का बहुत प्रभाव रहा है कितु इससे पूर्व श्रीमद् राजचन्द्र के विचारों का निकटतम साहचर्य रहा है। यह उनके अहिसा के सूक्ष्म निरूपण से स्पष्ट होता है। विकेन्द्रित अर्थ व्यवस्था, विकेन्द्रित सत्ता, नि·शस्त्रीकरण—इन सिद्धान्तो को जैन श्रावक के लिए अल्प परिग्रह, स्वतंत्रता, अनर्थ हिसा के संदर्भ मे देखा जा सकता है। जैन आचार मीमासा मे हिसा के दो विभाग मिलते है—अर्थ हिंसा और अनर्थ हिसा। उत्तरवर्ती जैन आचार्यो ने इन दो हाब्दो के स्थान पर अनिवार्य हिसा और वार्य हिसा का प्रयोग किया है। महात्मा गाधी ने भी अहिसा की मीमासा मे अनिवार्य हिसा का प्रयोग कर हिसा और अहिसा के बीच बहुत स्पष्ट भेदरेखा खीची है। अनेक विचारक आवश्यक हिसा को अहिसा कहकर मौन हो जाते है। महात्मा गांधी ने अनिवार्य हिसा को कभी अहिसा नही माना। इस विषय मे उनके कुछ विचार मननीय है—

'बदर को मार भगाने मे मै शुद्ध हिसा ही देखता हू। यह भी स्पष्ट है—उन्हें अगर मारना पड़े तो अधिक हिसा होगी। यह हिसा तीनो काल मे हिसा ही गिनी जाएगी।"

एक बार महात्मा गांधी से प्रश्न किया गया—कोई मनुष्य या मनुष्यो का समुदाय

---

१. दैनिक जन सत्ता ७/१२/९२

२ हरिजन सेवक १५ अक्तूबर १९३८ पृ २७६-२७७

लोगो के बड़े भाग को कष्ट पहुचा रहा हो, दूसरी तरह से उसका निवारण न होता हो तो तब उनका नाश करे तो यह अनिवार्य समझकर अहिसा मे खायेगा या नही ?

महात्मा गांधी ने उत्तर दिया—अहिसा की जो मैने व्याख्या की है, उसके ऊपर के तरीके पर मनुष्य वध का समावेश ही नही हो सकता। किसान तो अनिवार्य नाश करता है, उसे मैने कभी अहिसा मे गिनाया ही नही है। यह वध अनिवार्य होकर क्षम्य भले ही गिना जाए, किन्तु अहिसा तो निश्चय ही नही है।'

महात्मा गाधी अध्यात्म, अहिसा के क्षेत्र मे दुर्लभ व्यक्तित्व है। इस भौतिकवादी वातावरण मे उनको खोजना सत्य को खोजना है। किन्तु अध्यात्म निष्ठा से शून्य गांधी के नाम से चल रहे उद्योगो, संस्थानो, प्रतिष्ठानो और रचनात्मक प्रवृत्तियो मे उनकी आत्मा को नही खोजा जा सकता। इस कटु सत्य को सामने रखकर ही गांधी के बारे मे कुछ सोचा जाए। वर्तमान के लिए यह अधिक उपयोगी होगा।

अध्यात्म का व्यावहारिक मूल्य

मनुष्य शरीर, मन और इन्द्रियो की दुनिया मे जी रहा है। शरीर से सारी प्रवृत्तियो का सचालन होता है। इन्द्रियो से बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क बनता है और मन के द्वारा चिन्तन तथा कल्पना की जाती है। वाणी हमे दूसरो से मिलाने का कार्य करती है। जीवन की परिभाषा मनुष्य ने दृश्य ससार से ही निकाली है। शरीर, मन, इन्द्रिया और वाणी—इन चारो को ही जीवन मानकर व्यक्ति उलझा हुआ है। किन्तु क्या इस दृश्य जगत् के परे भी कुछ है ? यदि है तो क्या हम उसे जान सकते है ? यदि नही जान सकते तो क्या अदृश्य के अस्तित्व को नकार सकते है ?

गति है, प्रगति नहीं

ये प्रश्न अध्यात्म के है। यह बौद्धिक स्तर की बात नही है जहा तर्क-वितर्क चल सके। जब हम गहरे अन्तर् अनुभव मे चले जाते है तब वादो और तर्को से परे हटकर अनुभूति का तत्त्व पाते है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने लिखा है—

'वादाश्च प्रतिवादाश्च, वदन्तो निश्चितास्तथा।
तत्त्वात नैव गच्छन्ति, तिलपीलकवद् गतौ।
मुक्त्वाऽतो वादसघट्ट-मध्यात्म मनुचिन्त्यताम् ॥'

वाद और प्रतिवाद परस्पर मे इस प्रकार चल रहे है कि जिनका कोई पार नही। भारतीय दर्शनो ने बहुत वादविवाद किया परन्तु तैली के बैल की तरह जहा से चले थे वही वापस पहुच गए। तर्क और वादविवाद मे गति तो है, किन्तु प्रगति नही होती। पिछले हजार-पन्द्रह सौ वर्षो मे अधिकाशत· ऐसा ही हुआ है। केवल तर्क और शब्दो की पकड़ रही है, अनुभूति नही की गई और इसीलिए प्रगति नही हुई। प्रगति के लिए आन्तरिक विकास की जरूरत है और आन्तरिक विकास के लिए अध्यात्म और योग दो प्रिय विषय है।

अशांति का कारण

योग का अर्थ है—मिलना अथवा समाहृत हो जाना। हमारे मन मे अलक्ष्य प्रश्न

उभरते रहते है किन्तु उनका समाधान तब तक नहीं होता जब तक हमारा मन बाहर रहता है। मन की एकाग्रता होते ही, उसकी स्थिरता आते ही सारे प्रश्न समाहत हो जाते हैं— यही योग है। आज का युग बौद्धिक युग है, जहा व्यक्ति पर असंख्य दबाव और तनाव आते रहते है। बाह्य परिस्थितियों, जीवन के संघर्षो एव प्रवृत्तियों का मानव मस्तिष्क पर अत्याधिक दबाव रहता है, जिससे उसे अशांति मिलती है। इस अशांति से बचने का उपाय है योग और अध्यात्म। अपने अन्तर में चले जाना, स्वयं के सागर की गहराई में डूब जाना ही योग है। अपने आप से बाहर जाना ही अशान्ति का कारण है। भौतिक प्रगति करने वाले जितने भी देश है, वहां की स्थिति देखने से पता लगता है कि केवल बाह्य से उन्हें कितनी अशान्ति मिल रही है। बिटल्स और हिप्पी जैसी पौध इसलिए पनप रही है कि वहां चैन और शांति का अभाव है। अशांति का एक कारण अभाव होता है तो दूसरा कारण अतिभाव भी है। अभाव यदि इष्ट नही है तो अतिभाव भी लाभदायक नही। अभाव सुख नही देता है तो अतिभाव भी पागलपन और उन्माद देनेवाला होता है।

अध्यात्म का व्यावहारिक लाभ

अध्यात्म की भूमिका गहरी और ऊंची है किन्तु एक बार उसे छोड़कर अध्यात्म का व्यावहारिक लाभ देखें तो वह भी बहुत है। व्यक्तित्व का मूल्यांकन आध्यात्मिक भावना से ही हो सकता है। अध्यात्म-दृष्टि के बिना आदमी को आदमी की दृष्टि से नहीं आककर उपयोगिता की दृष्टि से आंका जाने लगता है जैसा आज अंकन हो रहा है। वस्तु का मूल्यांकन सही और शुद्ध दृष्टि से न होकर उपयोगिता की दृष्टि से होना अध्यात्म का अभाव है। किसी वस्तु का मूल्य कितना है वह उसकी उपयोगिता पर निर्भर होने लगता है। आजकल वृद्धजनो की उपयोगिता में संदेह करते हुए, कही-कही उन्हे गोली मारने का भी स्वर उभरता है और अनेक घरों में तो आज वृद्धो को किसी कोने मे डालकर घटी बजाने पर रोटी-पानी देने मात्र के योग्य समझा जाने लगा है, क्योकि उनकी उपयोगिता नही है। ऐसी स्थिति अध्यात्म के अभाव की परिचायक है। हमारी दृष्टि जब तक उपयोगिता की रहेगी हम वस्तु के अस्तित्व का मूल्य नही आंक सकेगे।

धुधलाती दृष्टि

प्रत्येक वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है और उस अस्तित्व को जानकर मूल्याकन करना अध्यात्म-दृष्टि का कार्य है। अष्टावक्र ऋषिकुमारो की सभा मे पहुचे तो सारे ऋषिपुत्र उनके आठ स्थानो से टेढ़े-मेढ़े शरीर को देखकर हॅस पडे। अष्टावक्र ने अपने सम्बोधन में कहा— मै चर्मकारों की सभा मे उपस्थित हुआ हू जहा मेरे अध्यात्म को नही

केवल वह लम्बाई को देख पा रहा है। ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि ऋषिपुत्रों के पास अध्यात्म-दृष्टि का अभाव था। उनकी वह दृष्टि धूमिल थी। भारत की उस आध्यात्मिक-दृष्टि का ह्रास हुआ है और वह दृष्टि धुंधली हो रही है। आचार्य तुलसी वही अध्यात्म-दृष्टि देना चाहते हैं। वे आध्यात्मिक अनुभूति देते हैं। जो उसे प्राप्त कर लेता है, उसे शक्ति का रहस्य प्राप्त हो जाता है।

धर्म की समस्या : धार्मिक का खंडित व्यक्तित्व

दुनिया मे बहुत सारे वाद और विवाद चल रहे है। सत्य को पाने के लिए सब वाद-विवाद प्रयत्नशील है। परन्तु क्या किसी ने सत्य को प्राप्त किया ? कोल्हू का बैल कोल्हू के इर्द-गिर्द घूमता रहता है। घटो तक गतिशील रहने पर भी वह आगे नही बढ़ पाता। ठीक यही दशा वादो और विवादो की है। वादो और विवादो के द्वारा किसी ने भी सत्य नही पाया। तब प्रश्न आया क्या करना चाहिए ? सत्य के लिए वादो के अखाड़े को छोड़ दो, वादो के सघर्ष को छोड़ दो और अध्यात्म का अनुचितन करो।

अध्यात्म

अध्यात्म कोई वाद नही है। अध्यात्म सबसे अलग रहने वाली वस्तु नही है। अध्यात्म किसी पाताल-लोक मे बसने वाली वस्तु भी नही है। किसी भी वस्तु की गहराई मे चले जाइए। वहा सहज ही अध्यात्म का स्पर्श हो जाएगा। समुद्र को सामने से देखते है तो पानी दिखाई देता है। आस-पास से कुछ छोटे-मोटे केकड़े आदि जानवर दिखाई देते है। मछलिया भी तैरती हुई दिखाई देंगी। शख, सीप आदि भी मिल जाते है। क्या समुद्र यही है ? यह तो समुद्र का दीखने वाला बाहरी रूप है। समुद्र की गहराई मे जाने पर अनेक मूल्यवान चीज़े उपलब्ध होती है। बाहरी रूप को देखने वाला व्यक्ति समुद्र मे छिपे रत्नो से परिचित नही हो सकता। सामान्यत लोगो की दृष्टि वस्तु के बाहरी आकार को ही देखती है। कि धार्मिक लोगो के जीवन मे जो परिवर्तन नही आता, उसका मूल कारण यही है कि वे धर्म के बाहरी तल का स्पर्श करते है, उसकी गहराई तक नही जा पाते। आज वैज्ञानिको ने चन्द्रलोक मे मनुष्य को उतार दिया। कैसे उतारा ? इसलिए कि वे अध्यात्म तक पहुचे, उस चीज की गहराई तक पहुचे। अध्यात्म का अर्थ होता है भीतर मे होने वाला— इस पडाल के भीतर होने वाला, इस भूमि के भीतर होने वाला, हमारे शरीर के भीतर मे होने वालो। किसी भी वस्तु के भीतर मे होने वाला जो है, वह अध्यात्म है।

मान्यता और व्यवहार

धर्म की गहराई मे कौन जाता है ? व्यक्ति मानता कुछ है और करता कुछ है। एक ओर मान्यता है और एक ओर सारा व्यवहार है। व्यक्ति की कुछ मौलिक मनोवृत्तिया

हम यह जानने का प्रयत्न करे कि यह क्या है ? एक धार्मिक व्यक्ति एक सिद्धान्त को दस-बाहर वर्ष की उम्र से दोहराना शुरू करता है और दोहराते-दोहराते मर जाता है पर वह अनुभव नहीं करता। शास्त्रों के प्रति हम न्याय तब कर सकते है जब शास्त्र हमारे लिए एक पूर्व-मान्यता के रूप मे आएं। जैसे एक वैज्ञानिक पूर्व-मान्यता को लेता है। न्यूटन ने देखा कि सेव गिर रहा है; उसके लिए सेव का गिरना एक शास्त्र बन गया। किन्तु क्या सेव गिर रहा है इतने मात्र से उसे ज्ञान हो गया ? उसने प्रयोग किया, उसका परीक्षण किया और परीक्षण करके सिद्धान्त की स्थापना की कि पृथ्वी मे गुरुत्वाकर्षण है। उस सेव का गिरना उसके लिए शास्त्र था, पूर्व मान्यता थी। वैसे ही अहिसा अच्छी है, ब्रह्मचर्य अच्छा है, अपरिग्रह अच्छा है, यह हमारी पूर्व मान्यता है। हम शास्त्रो मे पढ़ लेते है और उन्हे स्वीकार कर लेते है।

क्या अपरिग्रह को अच्छा माननेवाले परिग्रह से मुक्त होने का प्रयत्न करते है। शायद कभी नही करते। उनकी लालसा तो परिग्रह की ओर रहती है कि आज अगर दस लाख पास मे है तो अगले वर्ष बीस लाख हो जाए। वह भी दूसरो के लिए नही, केवल अपने स्वार्थ के लिए और अपने भोग के लिए। उनकी अभिमुखता परिग्रह की ओर है और वे अपरिग्रह के सिद्धान्त की रटन लगाते रहते है। अहिसा की बातें करने वाले बहुत लोग मिलते है किन्तु क्या उन्होने अहिसा को ठीक समझा है ? अगर आज कोई यह प्रमाणित कर दे कि गीता मे, उत्तराध्ययन मे यह लिखा है कि हिसा करना भी धर्म है, सभवत· वे मान लेगे। उनके लिए अहिसा धर्म है या हिसा करना भी धर्म है; इसमे कोई फर्क नही है यदि कोई शास्त्रो से प्रमाणित कर देता है तो वह बात उन्हे मान्य है। अस्पृश्यता सैकड़ो वर्षो से, हज़ारो वर्षो से चली आ रही थी किन्तु इन पचास वर्षों से बहुत वाद-विवाद से गुजरी। क्यो गुजरी ? इसलिए कि बहुत लोग यह जानते थे— अछूतता, अस्पृश्यता तो शास्त्रो के द्वारा सम्मत चीजे है।

गरीबी क्यो पल रही है ?

हिन्दूस्तान मे गरीबी क्यो पल रही है ? बहुत सारे लोगो के दिमाग मे यह घुसा हुआ है, जो गरीब है उनके दिमाग मे भी और जो उच्चवर्ग के है उनके दिमाग मे भी— धनवान अपने भाग्य का फल भोगता है, अपने कर्मो का फल भोगता है। ईश्वर की सृष्टि ही ऐसी है। भला उसे कौन अन्यथा कर सकता है ! यदि यह मिथ्या धारणा न होती तो गरीबी को मिटाने मे और अधिक त्वरता आती।

आज भी इस भाग्यवादी और कर्मवादी धारणा के द्वारा पुरुषार्थ की आग पर राख-सी आयी हुई है। वह जलती चली जा रही है। देखते भी है और सुनते भी है, बहुत साधारण लोगों को ऐसा कहते हुए— "क्या करे ? हमारे भाग्य मे ऐसा ही लिखा था, दूसरा कोई क्या करे ?" स्वय की कोई प्रेरणा नही है। उसके पीछे एक मान्यता वोल

रही है। दूसरे में शास्त्रीय वाक्यो का आवरण है। व्यक्ति को जहा धर्म की गहराई तक, अध्यात्म तक पहुंचना चाहिए था नही पहुच रहा है और इसीलिए परिवर्तन नही आ रहा है। यदि आध्यात्मिकता आ जाए तो शायद ऐसा नही होगा।

विनोबा बहुत बार कहते— अब धर्म की जरूरत नही है। एक विज्ञान रहेगा और एक अध्यात्म रहेगा। दो ही चीजे रहनी चाहिए। इसमे बहुत सचाई है, क्योकि धर्म क्रियाकाडो का जमघट-सा हो गया है। अन्ना साहब आचार्यश्री के पास आये। उन्होने कुछेक प्रश्न रखे। उन्होने कहा— धर्म के विषय में आज की धारणा ऐसी बन गई है कि उसमे परिवर्तन लाने की बात नही रह गई है। आचार्यश्री ने कहा— "मै इसे स्वीकार करता हू, क्योकि धर्म इतना रूढ़ हो गया है कि अब उसमें अवकाश नही रहा है कि कुछ किया जा सके। धर्म था सत्य की शोध के लिए परन्तु असत्य का पोषण करने मे आज की धर्मवादी धारणा का बहुत बड़ा हाथ है अन्यथा 'ये राजनैतिक' और 'ये समाजनैतिक' यह अलगाव नही होता। आज एक राजनैतिक व्यक्ति अपने को धार्मिक क्यो नही मानता? और एक धार्मिक व्यक्ति राजनीति और समाजनीति से सर्वथा अछूत कैसे रह सकता है? इनकी सम्बद्धता है। मनुष्य के एक ही व्यक्तित्व मे धर्म, अर्थ, समाज आदि सारी चीजे एकरस होकर गुजरती है।

जीवन का द्वैध

उनका प्रश्न था— 'आज आदमी दो घंटा उपासना कर लेता है और फिर वह छुट्टी पा लेना है। वह समझता है अब तो सारा दिन काम करने के लिए है।'

मैने कहा— 'गुरुदेव ने बहुत मार्मिक शब्दो में इस पर लिखा है। उसका आशय है कि एक ही आदमी एक घटा तो भक्त प्रह्लाद बन जाता है और दूसरे घटे मे हिरण्यकश्यप बन जाता है। देखने वाला समझ नही पाता कि जब उसे पूजा के स्थान मे, मदिर मे, धर्मस्थान मे साधुओ के पास देखता है तो कल्पना करता है कि शायद प्रह्लाद भी ऐसा भक्त हुआ था या नही। उसी व्यक्ति को जब आफिस मे, कार्यालय मे, दूकान मे देखता है तो कल्पना करता है कि शायद हिरण्यकश्यप भी इतना क्रूर हुआ था या नही। एक ही व्यक्ति मे एक ही दिन में जो इतना द्वैध मिलता है उसके जीवन मे धर्म कहां है? गुरुदेव इस विषय मे कहा करते है—एक होता है श्वास और एक होता है भोजन। हम समूचे दिन भोजन नही करते। दिन मे दो बार खाते होगे। कोई चार बार भी खा लेता होगा। चाय-कॉफी पीने वाले पांच-सात बार खा-पी लेते होगे। आखिर यह तो नही है कि निरन्तर खाते ही रहते है। यदि निरन्तर खाते ही रहे तो बीमार पड़ जायेगे। किन्तु क्या सास लिए बिना रह सते है? कहा जाए— पांच मिनट सॉस मत लो तो शायद नहीं रह सकेगे। दो मिनट रहना भी बड़ा कठिन है।

हमारा धर्म श्वास की तरह हो। अध्यात्म हमारा श्वास है और उपासना, पूजा-

पद्धतियां, क्रियाकाड— ये हमारे भोजन है । एक आदमी पूजा में, जप में, क्रियाकांड में आधा घंटा लगा सकता है, एक घंटा लगा सकता है । इतना निकम्मा तो नही कि सारा दिन ही पूजा मे लगाये । यदि सारा दिन लगा दे तो वह आर्थिक हानि से दब जायेगा। सामाजिक दृष्टि से पिछड़ जायेगा । ज्ञान-विज्ञान और भौतिक क्षेत्र में पिछड़ जायेगा ।ऐसा हिन्दुस्तानी लोगों मे हुआ है कि एक ओर तो बाहर से शत्रुओ का आक्रमण होता रहा और दूसरी ओर जो उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति थे, स्वयं पूजा-उपासना में बैठे रहे । यह भला कैसी पद्धति है, समझ मे नही आती ।

जीवन का मूल धर्म

धर्म शाश्वत है । वह हमारे श्वास की तरह है, जो निरन्तर होना चाहिए । दो घटा तो मै प्रामाणिक हू शेष घटा प्रामाणिक नहीं । मंदिर मे जाता साधुओं के स्थान पर आता हू तो प्रामाणिक हूं और जब मै दुकान पर जाता हूं तब धार्मिक भी नही हूं और प्रामाणिक भी नही हूं । यह धर्म की सबसे बड़ी हत्या और सबसे बड़ी मखौल है । ऐसा क्यो हुआ ? इसीलिए कि हमने उपासना को ही धर्म मान लिया । आचरण को धर्म नहीं माना और शाश्वत धर्म को नही पहचाना । उसी का ही यह परिणाम है; अन्यथा होना यह चाहिए कि कोई व्यक्ति उपासना कर सके या न कर सके किन्तु कम-से-कम श्वास तो लेता रहे, जिससे वह जीवित रह सके । हमारे जीने की यह प्रक्रिया थी । हमारी जो श्वास लेने की प्रक्रिया । प्राण भरने की प्रक्रिया थी, उसे तो हमने भुला दिया; और केवल ऊपरी भोजन पर सारा निष्कर्ष निकाल दिया। यही कारण है कि आज धर्म के द्वारा भी जो होना चाहिए, वह नही हो रहा है । यदि ऐसा हो जाए हमारे जीवन का मूल धर्म बने और नियम-उपासना हमारे जीवन का गौण धर्म बने तो जीवन की सही प्रतिष्ठा हो सकती है ।

अशान्ति की समस्या

सुख की खोज सुलभ नही तो शायद उसका प्रतिपादन भी सुलभ नही। मनुष्य की सारी साधना सुख और शान्ति के लिए होती है। यह मनुष्य का नैसर्गिक स्वभाव है। प्रश्न यह होता है कि मनुष्य सुख और शान्ति की साधना करता है तो उसे अशान्ति क्यो मिलती है ? विना चाहे ही अशान्ति क्यो आ जाती है ?

अशान्ति दो प्रकार की होती है— कल्पनाप्रसूत और मान्यताप्रसूत। इसी तरह सुख के कई प्रकार है— आरोग्य, दीर्घायु, सम्पन्नता आदि। प्रत्येक मनुष्य स्वस्थ रहना चाहता है, प्रत्येक मनुष्य दीर्घायु होना चाहता है और प्रत्येक मनुष्य सम्पन्न होना चाहता है। मनुष्य ही क्यो, प्रत्येक राष्ट्र के अधिनायक भी यही चाहते है कि हमारा राष्ट्र सब प्रकार से समृद्धिशाली, सुखी बने। आजकल जिस राष्ट्र की जनता सुखी नही होती, उसको अच्छा नही समाना जाता। हमारे प्रधानमत्री ने अपने एक भाषण मे कहा था— स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् हमारे देशवासियो की आयु मे वृद्धि हुई है। इसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र के कर्णधार यही चाहते है कि हमारे देश के वासी अधिक-से-अधिक सुखमय जीवन व्यतीत करे।

शान्ति और सुख

मनुष्य मे जब माया, मोह, लोभ आदि का आवेग आ जाता है तब उसे अशान्ति होती है। शान्ति नही तो सुख भी नही। शान्ति के बिना मनुष्य सुख की अनुभूति भी नही कर सकता। धन सुख का साधन माना जाता है परन्तु यदि एक धनी-मनुष्य रुग्ण है तो उसे शान्ति की अनुभूति नही होती। इसी प्रकार यदि एक मनुष्य अच्छा-अच्छा भोजन करने मे सुख का अनुभव करता है और वही यदि बुखार-पीड़ित होने पर दिया जाए तो उसे वह अच्छा नही लगेगा। एक मनुष्य की सगीत मे रुचि है परन्तु यदि उसके मन मे अशान्ति है तो उसे सुख की अनुभूति नही होगी। शान्ति और सुख का साहचर्य है, उनमे कार्य-कारण का भाव नही है हमारा साध्य सुख है शान्ति नही। शान्ति के अभाव मे सुख नही मिलता, इसीलिए शान्ति को महत्त्व अधिक दिया जाता है। शान्ति का अर्थ है शमन। रोग को शान्त करने के लिए चिकित्सा की जाती है। लोग कहते है रोग शान्त हो गया।

परन्तु शान्त क्या हुआ ? जो उभार आया था, वह मिट गया। फोड़ा हुआ, उपचार किया, मिट गया। शमन के लिए यही बात है। सुख के दो रूप है। वह भौतिक भी है और आध्यात्मिक भी। मकान, वस्त्र, रोटी— जिनसे सुख की अनुभूति होती है वे भौतिक है। आज इसी को प्रधान सुख मान लिया गया है। परन्तु हमारे महर्षियो ने, आचार्यो ने इसे व्याधि माना है। हमे भूख लगी है, समझ लीजिए— व्याधि उत्पन्न हो गई है। भोजन किया, व्याधि मिट गई। बुखार आया, दवा ली और बुखार दूर हुआ। इसमे सुख की कैसी अनुभूति हुई ? हा, उपकरणों द्वारा सुख की अनुभूति अवश्य होती है।

आज मनुष्य का मानसिक तनाव इतना बढ़ गया है कि शायद इतना पहले कभी नही था। अमेरिका आज की दुनिया का सबसे धनी देश है। वहा पर खाने, पीने, पहनने की कोई कमी नही है। घी-दूध की नदिया बहती है। गेहू जानवरो को खिलाया जाता है। इसके उपरान्त भी वहां मानसिक तनाव के रोगियों की सख्या दुनिया मे सबसे अधिक है। यदि बाह्य उपकरण ही सुख के साधन होते तो शायद ऐसा नही होता। मनुष्य के पास आज समय का बहुत अभाव हो गया है। वैसे तो भाव सभी चीज़ो का बढ़ गया है परन्तु समय का भाव सबसे अधिक बढ़ गया है। गर्मी-प्रधान देश होने के कारण भारत के लोग अधिक आलसी भी होते है, फिर भी समय की कमी उन्हे सदैव सताती है। यह भी एक मानसिक असतुलन है। अमेरका मे मानसिक तनाव बाह्य उपकरण की प्रचुरता के कारण ही अधिक फैला है। फ्रास मे भी मानसिक तनाव के रोगियो की सख्या इतनी बढ़ी है कि वहा के लोग यह अनुभव करने लगे है कि यदि आध्यात्मिकता का जीवन मे प्रवेश नही हुआ तो बिना किसी एटम बम या हाइड्रोजन बम के ही हम सब समाप्त हो जाएगे।

सीमा है पागलपन की

आज का पढ़ा लिखा आदमी अधिक असतुलित हो गया है। जिस प्रकार शरीरिक सतुलन बिगड़ने पर मनुष्य के शरीर मे गड़बड़ रहती है, उसी प्रकार मानसिक संतुलन बिगड़ने पर लोग घबराए-से रहते है। वैसे तो प्रत्येक मनुष्य मे कुछ न कुछ पागलपन अवश्य होता ही है, परन्तु बहुत पढ़े-लिखे लोग अधिक पागल देखे जाते है। बड़े-बड़े दार्शनिको को कभी-कभी यह भी याद नही आता है कि उन्होने भोजन किया है या नही ? इसके बारे मे वे अपने नौकरो से पूछते है। वह पागलपन विकास के लिए बहुत ही आवश्यक होता है परन्तु उसकी भी एक सीमा है। यदि मेवाड़ के पहाड़ो की सीमा न होती तो क्या उदयपुर वहा होता ? जयसमन्द की सीमा नही होती तो क्या गुजरात होता ? वे दोनो ससीम है, इसीलिए उदयपुर भी है, गुजरात भी है।

लाघ जाता है। उसे उस सुख की अनुभूति होती है, जो चक्रवर्ती सम्राट् को भी नही होती। अपने जीवन को प्रयोगशाला बनाकर यह निर्णय कीजिए कि जिन मान्यताओं को आप स्वीकार किए हुए है, वे काल्पनिक है या यथार्थ ? एक वार मन को सेवक मानकर अवश्य परीक्षा करनी चाहिए। मै आपको यह परमार्श नही दे सकता कि आप शरीर-सुख और इन्द्रिय-सुख की ओर सर्वथा ध्यान न दे किन्तु इतना सा परामर्श अवश्य दूगा कि आप मन को सेवक मानकर चले, स्वामी मानकर नही ।

समस्या है बहिरात्म भाव

मनुष्य जीना चाहता है, उसमें जीने की इच्छा है, जिजीविषा है। यह प्राणी का प्रथम लक्षण है। वह संतति का संवर्धन करना चाहता है। अमर होने की भावना या वंशवृद्धि की भावना प्राणी का दूसरा लक्षण है। उसका तीसरा लक्षण है— आवश्यकताओं की पूर्ति। प्रत्येक प्राणी अपनी आवश्यकता की पूर्ति करता है। रोटी, पानी, कपड़ा, मकान आदि-आदि की पूर्ति करता है। ये तीन मूलभूत बातें है, जो प्रत्येक प्राणी मे मिलती है— जिजीविषा, सतति का संवर्धन और आवश्यकता की सपूर्ति।

आत्मा के तीन रूप

मनुष्य अधिक विकासशील प्राणी है। उसने अपनी स्मृति का विकास किया है, कल्पना और चिन्तन का विकास किया है। उसका नाड़ीतत्र बहुत विकसित है। अन्य प्राणियो को वैसा योग प्राप्त नही है। इसलिए सब प्राणियो से उसने एक कदम आगे बढाया और अपनी काल्पनिक आवश्यकताओ का एक साम्राज्य खड़ा कर लिया। आवश्यकता पूरी हो सकती है पर काल्पनिक आवश्यकताओ के साम्राज्य का कभी अन्त नही होता, इतिश्री नही होती, वह बढ़ता ही चला जाता है। यही समाज की समस्या है और यही है आदमी का बहिरात्म भाव।

जैनधर्म निर्वाणवादी धर्म है। वह निर्वाण को मानकर चलता है। धर्म की अन्तिम मंजिल है निर्वाण। निर्वाणवादी धर्म मे निर्वाण से पहले आत्मा का होना जरूरी है। धर्म का पहला बिन्दु है आत्मा और अन्तिम बिन्दु है निर्वाण। जैनाचार्यो ने आत्मा को देखा, अनुभव किया और जाना— आत्मा एक रूप मे नही है वह स्वरूपत एक है, चेतनामय है फिर भी विभाजित है। उसे तीन भागो में देखा गया— बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

समस्या काल्पनिकता की

अपना ही घर और अपने लिए प्रवेश निषिद्ध। इस स्थिति मे जब आदमी बाहर भटकता है तो वह है कल्पना का साम्राज्य बहुत बढ़ा लेता है। आज के युग की जो सबसे बड़ी सामाजिक समस्या है, वह काल्पनिक दृष्टि। मनुष्य ने आवश्यकता के कुछ ऐसे मानदड बना लिए, कृत्रिम रेखाए खीच ली, विकसित व्यक्ति और विकसित समाज की अपनी अवधारणाएं बना ली और वह उन्हे पाने की भाग-दौड़ में व्यथित होने लगा।

सामाजिक समस्या का निदर्शन

२५०० वर्ष की बात है। डरावनी रात थी। भयंकर वर्षा हो रही थी। सम्राट् श्रेणिक महल मे बैठा था। सहसा बिजली कौधी। उस बिजली के प्रकाश मे सम्राट् ने देखा— एक आदमी नदी के पास काम कर रहा था, कुछ चुन रहा था। सम्राट् यह देखकर सहम गया। उसने तत्काल अभयकुमार को बुलाकर कहा— हमारे राज्य मे इतनी गरीबी है, इतना अभाव है कि ऐसी भयकर रात मे भी व्यक्ति को विवश होकर जंगल मे काम करना पड़ता है। जाओ! तलाश करो और उसे यहा बुलाओ। उस व्यक्ति को लाया गया। वह व्यक्ति मम्मण सेठ के नाम से जाना जाता था। श्रेणिक ने पूछा— भद्रपुरुष! क्या तुम्हे खाने को रोटी नही मिलती ?

'महाराज ऐसी बात नही है।'

फिर किस व्यथा मे इतनी भयंकर रात मे भी तुम नदी के किनारे कार्यरत थे।

'महाराज! मेरे पास एक ही बैल है, उसकी जोड़ी नहीं है।'

सम्राट ने उसे तुरन्त बैल दिलवाने का आदेश प्रदान किया।

'महाराज! क्षमा करे। जो बैल मेरे पास है, उसकी जोड़ी पूरी करना आपके वश की बात नही है।'

क्यों ? ऐसी क्या विशेषता है तुम्हारे बैल मे ?

'महाराज! कृपया आप पहले उसे देख लें फिर उसकी जोड़ी का बैल दिलाने का आदेश प्रदान करें।'

कहा है तुम्हारा बैल ?

'वह मेरे घर मे है। उस बैल के अवलोकनार्थ आपको मेरे घर पधारना होगा। उस बैल को यहा लाया नही जा सकता।'

सम्राट् ने दूसरे दिन उसके घर जाने का निर्णय किया। सम्राट् मम्मण सेठ के घर पहुंचा। मम्मण सेठ अच्छे गहने-कपड़े पहने हुए सम्राट् के स्वागत में प्रस्तुत था। सम्राट् को बड़ा आश्चर्य हुआ। सम्राट ने बैल के बारे में पूछा— 'कहां है बैल ?'

'राजन्! वह बैल भूतल मे है ?'

वह सम्राट् को भौहारे मे ले गया। सम्राट् बैल को विस्फोटित नेत्रो से देखता ही रह गया। सम्राट् की आखे खुली रह गई। वह रत्नजड़ित बैल था। उससे तज किरणें

मिथ्या है । उन्होने सत्य को समझा नही है, उनका दृष्टिकोण सम्यक् नही बना है ।

बहिरात्मा का तीसरा लक्षण है— क्रूरता । जो बहिरात्मा होता है, उसमे क्रूरता अधिक पनपती है । उसका आत्मा मे विश्वास नही होता । जब आत्मा मे विश्वास नही है तब करुणा कहां से आएगी ? अनात्मवाद में क्रूरता ही पनपेगी ।

जैन साहित्य म राजा प्रदेशी का नाम विश्रुत है । राजा प्रदेशी का जीवन दो भागो मे बटा हुआ था । एक वह समय था, जब राजा प्रदेशी आत्मा में विश्वास करने लगा। जब तक राजा प्रदेशी का आत्मा में विश्वास नही था तब तक उसने अनेक क्रूरतापूर्ण कार्य किए । राजा प्रदेशी ने एक बार केशी स्वामी से कहा— एक दिन सिपाहियो ने चोर को मेरे सामने हाजिर किया । कहा जाता है— आत्मा अलग है और शरीर अलग है । मैने इसकी सचाई का परीक्षण करने का निर्णय किया । तत्काल हाथ में तलवार ली और चोर के दो टुकड़े कर दिए । कही आत्मा नही दिखी । मै उसके टुकड़े-टुकड़े करता चला गया पर कही से भी आत्मा नही निकली । मैने सोचा— 'आत्मा होती है' यह कहना झूठी बकवास है । कोई आत्मा नही होती, यदि आत्मा होती तो सामने आ जाती । इतनी क्रूरता बहिर्भाव से ही आ सकती है । अन्यथा आदमी ऐसा परीक्षण कभी नहीं कर सकता । आज भी बहुत से जीवों को अत्यन्त क्रूरता से मारा जाता है । इसका कारण है मनुष्य का बहिरात्म-भाव ।

अशांति का कारण

बहिरात्मा का चौथा लक्षण है बन्धन की उपेक्षा । जो बहिरात्मा है, वह बन्धन की उपेक्षा करता चला जाएगा । जब फ्रास के कैदियों को बहुत वर्षो के बाद जेल से मुक्त किया तो बाहर के वातावरण मे रहना पसंद नही किया । उन्होने अनुरोध किया— हमे पुन· कारावास मे डाल दो । वे कारावास मे बहुत आसक्त हो गए । उन्हे वहीं अच्छा लगने लगा । बहिरात्म को बन्धन ही अच्छा लगता है, वह मुक्ति की बात नही करता ।

बहिरात्मा का पाचवां लक्षण है— मानसिक अशाति । वह मानसिक अशांति का जीवन जीता है । इस सारे सदर्भ मे वर्तमान समाज की समस्या का पर्यवेक्षण करे, सिहावलोकन करे । लोग कहते है— मानसिक अशाति बहुत है । प्रश्न होता है— मानसिक अशाति ज्यादा क्यों है ? आज केवल मानसिक तनाव को मिटाने के लिए दुनिया भर मे खरबों रुपये की दवाइयां खाई जाती है । क्या दवाइया मानसिक अशाति मिटा देगी ? जब तक बहिरात्म भाव जिदा है तब तक चाहे दुनिया भर की दवाएं खा ले, मानसिक अशांति नही मिटेगी । क्योकि मानसिक अशाति उसका परिणाम है ।

समाधान का सूत्र

हम बहिरात्म भाव को केवल अध्यात्म के सदभ मे ही न देखे । आज के समाज की समस्याओं के संदर्भ मे भी इसका अध्ययन करें । पूछा जाए— आज पूरे विश्व मे,

पूरी मानव जाति मे जो समस्याए उभर रही है, उनका कारण क्या है ? उत्तर होगा— इसका कारण है बहिरात्मा। जहां-जहा बहिरात्मा है वहा-वहा समस्याओ का जन्म होगा। उन्हे मिटाया नही जा सकेगा।

एक आदमी बैलगाड़ी पर सारा समान लादकर जगल मे जा रहा था।

लोगो ने पूछा— 'कहा जा रहे हो ?'

'गाव मे गदगी बहुत हो गई इसलिए जगल में जा रहा हू।'

'भले आदमी ! तुम गाव मे ही रहो। जगल को तो साफ रहने दो। गाव मे गदगी आदमी ने ही की है। यदि तुम जगल मे जाओगे तो जगल को भी गदा बना दोगे।'

सारी समस्याए और गदगी पैदा कर रहा है हमारा बहिरात्म-भाव। जब तक हम बहिरात्म-भाव को मिटाने की बात नही सोचेगे, आत्मा के भीतर जाने की बात नही सोचेगे, तब तक समस्याओ का समाधान हो सके ऐसा सम्भव नही लगता।

अन्तरात्मा

क्षितिज वह बिन्दु है, जहा धरती और आकाश— दोनो मिल जाते है। बहिरात्मा वह बिन्दु है, जहा शरीर और आत्मा—दोनो मिल जाते है। उनका अस्तित्व अलग होता ही नही। क्षितिज मे जिया नही जा सकता। उसकी कल्पना की जा सकती है। वह दृष्टि का भ्रम हो सकता है। वस्तुत जीना और रहना धरती पर है। यहां सारे भ्रम टूट जाते है।

भूमि भूमि है
गगन गगन है
नही गगन मे भूमि
नही भूमि मे गगन
गगन भूमि के संबधो में
विभ्रम-विभ्रम
मति का भ्रम है।

हमने भूमि और आकाश को एक मान लिया और क्षितिज की कल्पना कर डाली। जब यह भ्रम टूटता है तब गगन गगन रहता है और भूमि भूमि।

निश्चय नय की भाषा

उपचार की भषा है— आकाश मे सब है। निश्चय नय की भाषा होगी— **सर्वं आत्मप्रतिष्ठितम्** सब आत्म प्रतिष्ठित है। कोई किसी मे नही है। जहां वास्तविक सत्य है, वहा आधार और अधेय का संबध समाप्त हो जाता है, सारे आत्म-प्रतिष्ठित होते है। निश्चय नय की भाषा मे हमारी दृष्टि होती है— आत्मा आत्मा है, शरीर शरीर है। शरीर मे आत्मा नही है और आत्मा मे शरीर नहीं है। शरीर की सत्ता अपने आप में है, आत्मा की सत्ता अपने आप मे है। हमने भ्रमवश उन्हें एक मान लिया। तर्कशास्त्र में कहा जाता है— **उत्पन्नपुरुषभ्रांतेः स्थाणौ यद्वद् विचेष्टितम्**। स्थाणु मे पुरुष की कल्पना एक भ्रम है। किसी व्यक्ति ने स्थाणु— स्तभ को देखा और उसे पुरुष मान लिया। वह उससे भ्रात हो जाता है, उसकी चेष्टाए बदल जाती है।

सम्यग् दर्शन का अर्थ

जहां-जहां विभ्रम होता है, वहा-वहां चेष्टाएं बदल जाती है। अन्तरात्मा होने पर भ्रम टूट जाता है। बहिरात्मा भ्रम का जीवन जीता है। जैसे ही व्यक्ति अन्तरात्मा बनता है, भ्रांतियां टूट जाती है, सचाई सामने प्रस्तुत हो जाती है। जो जैसा होता है वह वैसा ही दिखने लग जाता है। अन्तरात्मा का मतलब है— यथार्थवाद और सम्यग् दर्शन। जब सम्यग् दृष्टि के क्षण जीवन मे आते है, सब-कुछ बदल जाता है।

कषोपला विवर्तन्ते, श्रेयः प्रेयोऽभिबाधते।
देहस्थाने स्थितश्चात्मा, जाते सम्यक्त्वदर्शने ॥

सम्यग् दर्शन के प्राप्त होने पर कसौटिया बदल जाती है, प्रेय श्रेय से बाधित हो जाता है और आत्मा देह के स्थान पर स्थित जाती है।

जब सम्यग् दर्शन प्रकट होता है, परमानन्द उदित होता है तब सारी कसौटियां बदल जाती है, सारे मापदण्ड बदल जाते है। मिथ्यादृष्टि की कसौटी मे वह व्यक्ति बड़ा है, जिसके पास धन ज्यादा है, सत्ता ज्यादा है, शक्ति ज्यादा है। उसकी दृष्टि मे सम्राट् श्रेणिक बड़ा होगा, पूनिया श्रावक बड़ा नहीं होगा। जब सम्यग् दर्शन उपलब्ध होता है, यह कसौटी बदल जाती है। सम्यग् दृष्टि व्यक्ति की दृष्टि मे सम्राट् श्रेणिक बड़ा नही होगा। श्रेणिक आज राजा है लेकिन कल क्या होगा ? कहा जाएगा ? भगवान् महावीर ने कह भी दिया था— श्रेणिक ! तुम मरकर नरक में जाओगे। जिस श्रेणिक से हजारो आदमी कांपते थे, वह नरक मे जाएगा और स्वय प्रकम्पित बना रहेगा। ऐसा व्यक्ति बड़ा कैसे हो सकता है ? बड़ा वही है, जिसने सम्यग् दर्शन पा लिया। वह यहा भी शान्ति का जीवन जिएगा और आगे भी शांति का जीवन जिएगा।

मूल्यांकन की दृष्टि

बहिरात्मा प्रत्येक घटना या पदार्थ का मूल्यांकन प्रियता के आधार पर करता है। जो चीज खाने मे अच्छी है, प्रिय लगती है व्यक्ति उसे खाने के लिए लालायित बना रहता है। चाहे उससे आंते खराब हो जाएं, स्वास्थ्य बिगड़ जाए। उसके सामने स्वास्थ्य का प्रश्न गौण होता है और प्रियता मुख्य। जब तक आदमी बहिरात्मा बना रहता है, अपनी आत्मा के बाहर चक्कर लगाता रहता है तब तक उसकी दृष्टि प्रेयोन्मुखी बनी रहती है। व्यक्ति जैसे ही अन्तरात्मा बनता है, उसके मूल्याकन का आधार बदल जाता है। वह घटना या पदार्थ को प्रियता की दृष्टि से नही देखेगा। उसकी दृष्टि श्रेयोन्मुखी होगी। उसके लिए प्रेय के स्थान पर श्रेय मुख्य बन जाएगा।

जब सम्यग् दर्शन अभिव्यक्त होता है, व्यक्ति अन्तरात्मा बन जाता है। बहिरात्मा से अन्तरात्मा बनने का अर्थ है— जिस सिहासन पर शरीर बैठा है, उस सिंहासन पर आत्मा को बिठा देना। उसकी दृष्टि मे शरीर का आधार आत्मा बन जाती है।

बहिरात्मा तु सर्वत्र शरीरमनुवर्तते ।
अन्तरात्मा शरीर च पुष्णात्यात्मानमीक्षते ॥

बहिरात्मा सर्वत्र शरीर का अनुवर्तन करता है । अन्तरात्मा शरीर को पुष्ट करता है किन्तु उसकी दृष्टि आत्मा की ओर लगी रहती है ।

शरीरलक्षी : आत्मलक्षी

बहिरात्मा का चितन होता है— शरीर और इन्द्रिया स्वस्थ रहे, प्रसन्न रहे । उसके सारे कार्य इसी धारणा के आधार पर सपादित होते है । अन्तरात्मा भी शरीर का सम्यग् भरण-पोषण करता है किन्तु उसकी दृष्टि आत्मा पर केन्द्रित रहती है । एक शब्द मे कहा जाए तो मात्र शरीरदर्शी बहिरात्मा है और आत्मदर्शी अन्तरात्मा है । बहिरात्मा से अन्तरात्मा बनने का अर्थ है— शरीरलक्षी से आत्मलक्षी बन जाना । यह दृष्टिकोण का अन्तर व्यक्ति को बाहर से भीतर की ओर ले आता है । उसका दृष्टिकोण बदलता है और यही बदलाव का मुख्य घटक है । दृष्टिकोण बदला कि आदमी बदला । जब यह दृष्टि स्पष्ट होती है— आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है तब एक नई धारणा बनती है, व्यक्ति का चितन बदलता है, आचार और व्यवहार बदलता है । एक अवधारणा व्यक्ति को सुखी बना देती है और दूसरी अवधारणा उसे दु खी बना देती है । दु ख का कारण है—**मूलं संसारदुःखस्य देहे एवात्मधीः**

समस्त दु खो का मूल है शरीर को आत्मा मान लेना । यदि यह दृटिकोण बदले, आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है, यह सचाई समझ मे आए, व्यक्ति अपनी दृष्टि को इन्द्रियो से हटाकर अपने भीतर टिकाए तो सारी स्थितिया बदल जाए, चिन्तन और व्यवहार बदल जाए ।

अन्तरात्मा का दृष्टिकोण

अन्तरात्मा का एक लक्षण है— आत्मा को शरीर से भिन्न मानना । उसका दूसरा लक्षण है— आसक्ति का कम होना । जैसे ही व्यक्ति अन्तरात्मा बनता है, आसक्ति मे अन्तर आना शुरू हो जाता है, अनासक्ति का उदय होता चला जाता है । भरत चक्रवर्ती अन्तरात्मा थे । उन्होने पूरा राज्य किया, सारे भोग भोगे और वे आदर्शगृह मे बैठे-बैठे केवली बन गए । यह है अन्तरात्मा का अनासक्त भाव । अन्तरात्मा मे अनासक्ति का क्रमिक विकास होता चला जाता है, अनासक्ति बढ़ती चली जाती है, धन के प्रति लालसा कम होती चली जाती है । उसके लिए धन मात्र साधन होता है, साध्य नही होता ।

अन्तरात्मा का दृष्टिकोण पदार्थ प्रतिबद्ध नही रहता । आचार्य भिक्षु ने लिखा— धाय बच्चे को खलाती है, पिलाती है, उसका लालन-पालन करती है किन्तु वह यह जानती है— यह बच्चा मेरा नही है । वैसे ही सम्यग् दृष्टि व्यक्ति अपने कुटुम्ब की प्रतिपालना करता है किन्तु उसके भीतर मे लगाव नही होता । वह यह जानता है— कुटुम्ब मेरा नही है ।

जे समदृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल ।
अन्तर मे न्यारा रहे, ज्यू धाय खिलावे बाल ।।

करुणा के निदर्शन

अन्तरात्मा का तीसरा लक्षण है— करुणा । जब आसक्ति कम होती है करुणा जाग जाती है । अन्तरात्मा क्रूरतापूर्ण व्यवहार नही कर सकता । श्रीमद्राजचन्द्र को देखे, जिन्होने कहा था— राजचन्द्र दूध पी सकता है, किसी का खून नही पी सकता । उत्तमचन्दजी बैगाणी का देखे, जिन्होने कहा था— जिस अशुभ हीरे के कारण मुझे पुत्र वियोग का दु ख झेलना पड़ रहा है, उस हीरे को बेचकर मै किसी भी पिता को पुत्र वियोग से दु:खी देखना नही चाहता । मै इसे बेचने के वनिस्पत कुए मे डालना पसद करूगा । ये हैं करुणा के निदर्शन । जिसमे करुणा जाग जाती है, उसकी भावना बदल जाती है ।

मानसिक अशाति का प्रश्न

अन्तरात्मा का पाचवा लक्षण है— मानसिक शाति । उसके मन मे बड़ी शाति रहती है । कभी अशाति आती ही नही ।

तत्त्वार्थसूत्र का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है— परस्परोदीरितदु खा । नरक के प्रसग मे आचार्य उमास्वाति ने लिखा— नरक मे जो नारक है, वे परस्पर एक-दूसरे को दु ख देते है । नारक है, उनमे अवधिज्ञान का विभ्रम होता है । परिणामत उनके भावो मे आवेश होता है, उनके कषाय प्रबल होते है और वे परस्पर एक दूसरे के दु ख की उदीरणा करते हैं, एक-दूसरे को सताते रहते है । जो सम्यग्दृष्टि नारक है, वे परस्पर दु खी नही होते क्योकि वे सोचते रहते है हमने जो पाप किया, उसका परिणाम आज भुगत रहे है । अब ऐसा कोई काम नही करना है, जिससे आगे भी कष्ट भोगना पड़े । वे निरन्तर इस चिन्तन मे अपनी आत्मा को लगाए रखते है । इसलिए वे परस्पर दु ख की उदीरणा नही करते ।

मिथ्यादृष्टि नारक दो प्रकार का दु ख भोगता है । एक क्षेत्र के अनुभव से होने वाला सर्दी और गर्मी का दु ख । दूसरा परस्पर उदीरणा से होने वाला दु ख । सम्यग्दृष्टि एक ही प्रकार का दु ख भोगता है वह केवल क्षेत्र की सयोजना से होने वाला दु.ख भोगता है, शेष सारे दु खो से बच जाता है । दृष्टिकोण के बदलाव से यह अन्तर घटित होता है ।

दृष्टि का भ्रम टूटे

हम इस तथ्य को पारिवारिक और सामाजिक सदर्भ मे देखे । परिवार मे कलह [illegible] जाता है, समस्याए उभर जाती है । यदि गहराई मे जाए तो इसका प्रमुख कारण दृष्टिकोण [illegible] होना है । अगर दृष्टिकोण सम्यक् बन जाए तो कलह का बहुत निवारण हो [illegible] । जो व्यक्ति अपना आत्मनिरीक्षण करेगा, अपने आपको देखेगा, वह केवल दूसरो

की कमी को देखकर उस पर हावी नही होगा। यह अन्तर्दर्शन या सम्यग्दर्शन पारिवारिक सामाजिक और संस्थागत झगड़ो को समाप्त करने का बहुत बड़ा उपाय है। आदमी का दृष्टिकोण बदलता है तब समस्याए सुलझती है। अधिकाश समस्याए भ्रमवश उलाती है। जो शरीर को ही आत्मा मानता है वह भ्रम मे है। इस भ्रम के टूटते ही मानसिक अशाति अपने आप समाप्त हो जाए।

हमारी आत्मा की दूसरी अवस्था है— अन्तरात्मा होना। बहिरात्मा को अतिक्रान्त कर अन्रात्मा मे चले आना, बाहर ही बाहर चक्कर लगाना बन्द कर अपनी आत्मा मे आ जाना, अपने घर मे आ जाना। जो व्यक्ति अन्तरात्मा की सन्निधि मे आ जाता है सचमुच उसकी भ्रांतियां टूट जाती है, वह सदा मानसक शाति का जीवन जीना सीख लेता है।

राग और विराग का दर्शन

विषययेषु विरागस्ते, चिर सहचरेष्वपि ।
योगे सात्म्यमदृष्टेऽपि, स्वामिन्निदमलौकिकम् ।।

आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा— भगवान् ! आपकी बात अलौकिक है, लौकिक नही है, लोकोत्तर है । आपके जो पुराने साथी है । उनके प्रति आपका विराग है । पाच इन्द्रियो के विषय आपके चिर सहचर है, फिर भी आपका उनके प्रति अनुराग नही है । योग के प्रति आपका अनुराग है । आपने योग को कभी देखा ही नहीं । उसके साथ अनुराग ही नही, ऐकात्म्य है । यह आपकी अलौकिकता है ।

राग से चलता है समाज

परमात्मा की चर्चा अलौकिकता की चर्चा है । वहां अलौकिता की सीमा समाप्त हो जाती है, एक नई सीमा शुरू हो जाती है । वह एक नया देश है । वहा जाने वाला कोई भी व्यक्ति वापस यहा नही आता । परमात्मा अलौकिक होता है । समाज लौकिक चेतना के आधार पर चलता है । लौकिक चेतना का अर्थ है— रागात्मक चेतना । समाज राग से चलता है । जितने साहित्यकार हुए है, उन्होने स्वीकार किया है— समाज का मुख्य तत्त्व है— रागात्मकता । यद रागात्मकता नही है तो कविता कविता नही है, साहित्य साहित्य नही है, नाटक नाटक नही है । नाटक, कविता, उपन्यास, साहित्य— इन सबका प्राण तत्व है— रागात्मकता । रागात्मकता के बिना सामाजिक जीवन सूना-सूना लगता है । जब हम समाज से व्यक्ति के स्तर पर आते है तब एक नया तत्व प्रस्फुटित होता है । वैयक्तिक जीवन का मूल तत्त्व है— विराग । समाज का अर्थ है रागात्मक चेतना और व्यक्ति का अर्थ है विराग चेतना । राग लौकिक है और विराग अलौकिक ।

हमारी दुनिया विचित्र है । हम जीते है राग मे और चर्चा सुनना चाहते है विराग की । जीवन जीते है सराग का और आदर्श मानते है विराग को । आज तक किसी भी धर्म ने राग को आदर्श नही माना । धर्म का आदर्श है परमात्मा । राग-द्वेष से जो मुक्त है, वह परमात्मा है । दुनिया का यही वैचित्र्य है— राग का जीवन जीना और वीतराग को इष्ट या आदर्श मानना । इसके पीछे एक बहुत बड़ा बौद्धिक कारण है । यदि राग को आदर्श मान जाए तो राग इतना भयकर बन जाएगा कि आदर्श की नहीं [illegible]

जब तक समाज के सामने विराग का दर्शन है तब तक समाज ठीक चलता है। यदि राग का एकछत्र साम्राज्य फैल जाए तो समाज की व्यवस्था एक दिन मे चरमरा जाए।

हिंसा अहिसा के सहारे

पूज्य गुरुदेव ने कलकत्ता चतुर्मास के दौरान काशीपुर की एक प्रवचन सभा मे कहा था— "आ हिंसा अहिसा के कंधो पर बैठकर चल रही है। झूठ सत्य के सहारे पल रहा है। यदि ऐसा अवसर प्रस्तुत हो जाए, चौबीस घंटे केवल हिसा ही हिसा चले तो कौन बच पाएगा ? अहिसा है इसीलिए हिसा चल रही है। सब मिलकर हिसा की होली खेले तो परिणाम क्या होगा ? बाजार में दुकानो पर लिखा होता है— असली देशी घी की मिठाइया मिलती है, शुद्ध माल, मिलता है। सारे पट्ट सचाई के मिलेगे किन्तु उनकी ओट मे झूठ पलता है।

एक ज्वलंत समस्या है अपराध की। प्रश्न होता है— समाज मे अपराध क्यो बढ़ते है ? जब राग उच्छृखल बनता है, अपराधो को पनपने का अवसर मिलता है। राग पर अकुश बना रहे तो अपराध नियन्त्रित रहेगे। पुलिस कभी अपराध की रोकथाम नही कर सकती। जब तक राग के सामने विराग का आदर्श नही होगा, अपराध की रोकथाम सभव नही हो पाएगी।

जरूरी है विराग दर्शन

अपराध का रोकने का सबसे बड़ा सूत्र है— राग के साथ-साथ विराग का दर्शन। यदि हम वीतराग को अपना आदर्श मानें और णमो अरहताण को याद करते चले जाए तो राग पर एक अकुश लग जाए। यह सच है कि कोई व्यक्ति एक दिन मे अर्हत् नही बन सकता। यदि अर्हत् बनने का संकल्प मन मे उतर जाए, यह आदर्श मन में रम जाए तो राग नियत्रित बना रहेगा, उच्छृखल नहीं होगा। यह नही सोचा जा सकता— समाज का बहिरात्मभाव समाप्त हो जायेगा, सब अन्तरात्मा बन जायेगे। यह इष्ट और वाछनीय है किन्तु ऐसा होता नही है। बहिरात्मा व्यापक सख्या मे है। हम उनके सामने परमात्मा का दर्शन प्रस्तुत कर सकते है। उन्हें यह बताया जा सकता है— समाज को ठीक चलाने के लिए परमात्मा का होना आवश्यक है। अगर परमात्मा का भाव नही रहा तो समाज ठीक नही चलेगा। व्यक्ति के जीवन मे कभी-कभी एक क्षण ऐसा आता है, परमात्मा-दर्शन का आलोक उसके जीवन को उजाले से भर देता है, व्यक्ति बहिरात्मा से परमात्मा की दिशा मे प्रस्थान कर देता है।

राग का निदर्शन

इलाचीकुमार ने एक सम्पन्न घर मे जन्म लिया। जब उसने यौवन मे प्रवेश किया तब एक नटमण्डली उसके नगर में आई। नटो ने अपने खेल दिखाए, करतब दिखाए।

इलाचीकुमार उनके करतब देखकर मुग्ध हो गया।

हर आदमी मे राग होता है। नाटक, सिनेमा आदि से राग को उद्दीपन मिलता है, राग प्रबल बनता है। नटराज की कन्या बहुत सुन्दर थी। इलाचीकुमार उस नट कन्या पर मुग्ध हो गया। नाटक सम्पन्न हुआ। इलाचीकुमार अपने घर आया किन्तु उसका मन उस नटकन्या मे उलझ गया। उसने अपने पिता से कहा— मै उस नटकन्या से विवाह करना चाहता हू।

पिता ने कहा— यह कभी सम्भव नही है।

उस जमाने मे जातिप्रथा का बोलबाला था। एक ओर कुलीन वश, उच्च गोत्र और सम्पन्न, समृद्ध परिवार था तो दूसरी ओर नट जैसे निम्न कर्म के आधार पर जीविकोपाजन करने वाला परिवार। दोनो मे कही मेल नही था। इलाचीकुमार के अनुरोध को सर्वथा अस्वीकार कर दिया गया।

इलाचीकुमार ने कहा— उसके बिना मेरा जीना भी सम्भव नही है।

जब राग चरम सीमा पर पहुचता है तब आदमी क्या-क्या कर लेता है, इसकी कल्पना नही की जा सकती। बात तन गई।

अतत पिता ने कहा— जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वैसा करो।

वह नटराज के पास गया। उसने नटराज स कहा— मै एक माग लेकर आया हूँ।

'बोलो! क्या चाहते हो?'

'मै तुम्हारी कन्या से शादी करना चाहता हू और इसके बदले मै तुम्हे तुम्हारी कन्या के तोल के बराबर सोना दूगा।'

मुझे यह शर्त मान्य नही है। मै अपनी कन्या तुम्हे नही दे सकता।

इलाचीकुमार यह सुनकर अवाक् रह गया।

नटराज ने कहा— 'जो व्यक्ति अपने पिता के धन के सहारे जीता है, उसे मै अपनी कन्या नही दे सकता। मै अपनी कन्या का विवाह उसीके साथ करूगा, जो अपना गुजारा अपने पुरुषार्थ से चलाएगा। दूसरो के सहारे अपना जीवन जीने वाले व्यक्ति को मै कन्यादान नही करूगा।'

यह बहुत मार्मिक बात है। दूसरे के भरोसे पर जीने की बात बहुत खतरनाक होती है। प्रसिद्ध कहावत है— पूत कपूता यू धन साचै, पूत सपूतां क्यू धन सचै— 'इसे गाया है बहुत किन्तु यह सत्य व्यक्ति के मानस मे रमा नही।

इलाचीकुमार ने कहा— 'आप अपनी शर्त प्रस्तुत करे। मै उसे पूरा करने के लिए तैयार हू।'

'अगर मेरी कन्या से शादी करना है तो नटमण्डली मे आओ, नट के करतब सीखो, धन कमाओ और सारी नटमण्डली को सन्तुष्ट करो। यदि इतना धैर्य है तो शादी की जा सकती है।'

शर्ते बड़ी कठोर थी। पर राग क्या-क्या नही करता। इलाचीकुमार ने सारी शर्ते स्वीकार कर लीं। वह वैभवशाली घर को छोड़कर नट मण्डली मे शामिल हो गया। उसने नटविद्या सीखी। वह कुशल नट बन गया। एक दिन ऐसा योग मिला— एक राजा के सामने नटमण्डली का प्रोग्राम था। इलाचीकुमार ने आश्चर्यकारी करतब दिखाए। राजा को छोड़कर सारे सभासद, सारी प्रजा मुग्ध हो गई। रा‍ा का मन नटन्या म उला गया। राजा ने सोचा— जब तक यह नट कलाकार जिन्दा है तब तक नटकन्या मेरे हाथ नही आ सकती अगर बास पर खेलत-खेलते यह नट गिर कर मर जाए तो मै इस कन्या को पा सकता हू।

विराग का क्षण

जब राग उच्छृखल होता है तब समाज मे अपराध कैसे बढ़ते है— यह इसका सजीव चित्र है। एक प्रहर बीता। नट बास से नीचे उतरा। सबने प्रशंसा की, मगर राजा ने कहा—मुझे पसन्द नही आया। तुम पुन करतब दिखाओ। इलाचीकुमार पुन बास पर चढ़ा। उसने पुन रोमाचक करतब दिखाए। राजा ने उदासीनता से कहा— तुमने तो अच्छे करतब दिखाए मगर मुझे सन्तोष नही हुआ। नट ने सोचा— राजा की नीयत खराब है। यह मुझे मारना चाहता है। कन्या के आग्रह पर नट एक बार फिर बास पर चढ़ा। उसने देखा सामने वाले घर मे एक सुन्दर सी कन्या एक मुनि को भिक्षा दे रही है। वह कन्या नटकन्या से भी सुन्दर है पर साधु ने उसकी ओर देखा तक नही। वह विस्मय से भर गया। उसके मन मे प्रश्न उभरा— यह क्या ?

राग के उफान पर विराग का एक छीटा पड़ गया। वह चिन्तन की गहराई मे उतरा— मै एक नटकन्या के पीछे पागल बना घूम रहा हू। मैने घर छोड़ा, परिवार छोड़ा। नटकर्म जैसा कर्म अपनाया। गाव-गाव घूमता हू, नाटक दिखाता हू। न खाने का समय और न कोई सुख-सुविधा। नटकन्या के लिए अपनी संभ्रातता छोड़ चुका हू। दूसरी ओर वह मुनि है, जिसने रूपसी कन्या पर दृष्टिपात भी नही किया।

वह गहराई मे डूबता चला गया। राग के उद्दाम प्रवाह पर एक अकुश लग गया। विराग ने राग को क्षीण बना दिया। वह बास से नीचे उतरा, सीधा सभा से बाहर जाने लगा।

नटकन्या बोली— 'कहा जा रहे हो ?'

इलाचीकुमार ने कहा अलविदा।

नटकन्या ने कातर स्वर मे कहा— 'क्या हुआ ?'

इलाचीकुमार ने कहा— 'जो होना था हो गया, जो पाना था पा लिया। अब कुछ भी पाने की आकाक्षा शेष नही है।'

कहा जाता है— इलाचीकुमार ऊपर चढ़ा था रागी बनकर और नीचे उतरा वीतरागी

बनकर। चढ़ा था अल्पज्ञान की अवस्था मे, उतरा केवलज्ञानी होकर। जैसे भरत महलो को छोड़कर चल दिये वैसे ही इलाचीकुमार ने नटमण्डली को छोड़कर प्रस्थान कर दिया।

विराग का चिराग जले

यह सामाजिक जीवन का एक बहुत सुन्दर चित्र है। जब समाज मे केवल राग ही राग बढ़ता है तब समस्याए उग्र बनती है, विकृतियां पैदा होती है। राग के सामने विराग का चिराग नही जलेगा तो राग उच्छृखल बन जाएगा, खतरनाक बन जाएगा। राग के सामने विराग का होना जरूरी है और उस विराग का होना ही परमात्मा का होना है। परमात्मा का मतलब है— भीतराग होना, राग से विराग की दिशा मे प्रस्थान कर देना। कहा गया— परमात्मातिनर्मल — जीवन मे निर्मलता का आना, वीतरागता का आना परमात्मा का होना है।

परमात्मा होने के भी कई कारण है। इलाचीकुमार के जीवन मे एक घटना घटी, वह रागी से विरागी बन गया। यह विवेक के द्वारा भी सम्भव है। प्रश्न पूछा गया— आत्मा परमात्मा कब बनता है ? आचार्य ने समाधान की भाषा मे कहा—

उच्छसिए मणगेहे, नट्ठे निस्सेसकरणवावारे।
विप्फुरिए ससहावे, अप्पा परमप्पओ हवदि॥

जब मन का घर उजड़ जाएगा , इन्द्रियो के प्रयत्न समाप्त हो जाएगे, आत्मा का अपना मौलिक स्वभाव प्रकट हो जाएगा तब आत्मा परमात्मा बन जाएगा।

जरूरत है दिशा बदलने की

आत्मा और परमात्मा मे ज्यादा दूरी नही है। केवल दिशा बदलने की जरूरत है। दिशा बदले, दृष्टि बदले तो सारा जीवन बदल जाता है जिसकी दृष्टि बदल जाती है उसका अहकार भी बोध के लिए होता है, राग भी गुरु-भक्ति के लिए होता है और विषाद भी कैवल्य के होता है—

अहंकारोऽपि बोधाय, रागोऽपि गुरुभक्तये।
विषाद· केवलायाऽभूत्, चित्र चित्र श्रीगौतमप्रभो ! ॥

जब दृष्टि बदलती है, तब व्यक्ति के जीवन मे व्रत, त्याग और विराग आता है। जब जीवन मे व्रत और विराग आता है, तब व्यक्ति का परमात्मा की ओर प्रस्थान हो जाता है।

राग : विराग

यदि पूछा जाए— समाज का परम तत्त्व क्या है ? उत्तर होगा— राग। जब व्यक्ति समाज की सीमा का अतिक्रमण कर अपनी ओर मुड़ जाता है तब विराग परम तत्त्व बन जाता है—

समाजस्य परं तत्त्वं, राग इत्यभिधीयते ।
समाज समतिक्रान्तः, विरागो व्यक्तिमाश्रितः ॥

इस सच्चाई की ओर ध्यान केन्द्रित होना जरूरी है । यदि विराग का आदर्श सामने नही रहा तो राग समाज मे विकार का कारण बनेगा । इसीलिए रागी व्यक्तियो के सामने भी विराग का आदर्श जरूरी है ।

विरागेण विना रागा विकारान् वितनोत्यलम् ।
तेनादर्शो विरागःस्याद्, रागिणामपि देहिनाम् ॥

आज का युग राग बहुल है । राग को उद्दीप्त करने वाले तत्त्व भी प्रचुर है । इस स्थिति मे यदि राग को खुला अवकाश दे दिया गया तो समाज का जीवन नारकीय बन जाएगा, डकैती, बलात्कार, हत्या, अपराध आदि से समाज संत्रस्त बन जाएगा । आज के युग मे विराग की चर्चा अधिक प्रासगिक है । हम विराग की बात सुनें । विराग के प्रति श्रद्धा जागेगी तो राग की भभकती आग पर पानी का छिड़काव होगा ।

वैज्ञानिक चेतना से नशा मुक्ति

हमारे युवा वर्ग मे नशा करने की आदत बड़ी तेजी से बढ रही है। नशा उर्दू भाषा का शब्द है। संस्कृत तथा हिन्दी मे इसके लिए उन्माद या पागलपन शब्द है। चेतना का विकृत हो जाना, बिगड़ जाना, भान भूल जाना नशे की प्रकृति है।

विज्ञान का प्रतिपादन

नशा करना पहले भी चलता था, लेकिन इस प्रवृत्ति पर इतना ध्यान नही गया। जैन आचार्यो ने सात कुव्यसन बतलाए, उनमे एक नशा भी है। शराब का उसमे प्रतिपादन किया गया, छुड़ाया भी गया। एक ऐसी जाति का निर्माण कर दिया, जो मास और शराब से बिल्कुल दूर हो गई। समझाने का पुराना तरीका यह रहा कि शराब पीना, नशा करना अच्छा नही। इससे चेतना विकृति होती है। परलोक मे नरक मिलता है, इस तरह भय और विकृत मे इसका प्रतिपादन किया गया। किन्तु विज्ञान ने इस विषय का जो प्रतिपादन किया है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। नशा आज एक समस्या के रूप मे है। समस्या तो पहले भी थी किन्तु अब और जटिल बन गई है। सुना भी और पढ़ा है कि इन एक-दो वर्षो मे अमरीका मे दो करोड़ लोगों ने सिगरेट पीना छोड़ दिया। वहां पर सिगरेट पीना इसलिए नही छोड़ा कि मरने के बाद नरक मिलेगा, पाप कर्मो का वन्धन होगा, बल्कि इसलिए छोड़ी कि सिगरेट पीने से फेफड़े खराब होते है, स्वास्थ्य खराब्ब हो जाता है। अवसर, दिल के दोरे पड़ना एवं कैसर जैसी भयकर वीमारियो से व्यक्ति ग्रसित हो जाता है। जब से नशे से होने वाले नुकसानप्रद तथ्यो को डाक्टरो, वैज्ञानिको ने जनता के सामने रखा तो सब लोग चौक गए। इतने भयभीत हुए कि समझाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। स्वत ही नशा छोड़ते गए। किसी ने यह भी नहीं कहा, "तुम्हे छोड़ देना चाहिए।" परिणाम सामने आया तो लोगो मे आशकाए एवं आतक पैदा हुआ। अर्थ की हानि और मौत को निमत्रण मिल जाए, इससे बढ़कर और खतरनाक क्या बात हो सकती है?

तम्बाकू: भयकर नशा

तम्बाकू इन दिनो नशे मे खूब काम आ रही है। बीड़ी, सिगरेट एव [illegible] [illegible] [illegible] तम्बाकू के ही अलग-अलग रूप है। तम्बाकू का खाना, पीना एव [illegible] [illegible] [illegible]

चूसना, सूघना इयादि। ये सभी तरीके तम्बाखू के इस्तेमाल मे प्रयोग किए जाते है। आज के युवा वर्ग का बढ़ता शौक जब आदत मे परिवर्तित हो जाता है तब समाज के सामने विकट स्थिति पैदा हो जाती है। इसी बात को दृष्टिगत रखते हुए सरकार ने एक कानून पास कर नशे के पैकेट चाहे जर्दे का हो या सिगरेट का, उन पर लिखना आवश्यक कर दिया कि 'सिगरेट स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है'। फिर भी वर्तमान मे लोग नशे की आदत को छोड़ने को राजी नही है। सिगरेट पीते है, बीड़ी पीते है एव जर्दा भी खाते है। मैने लोगो से पूछा— "तुम बीड़ी पीते हो, जो हिदायत लिखी रहती है, उसको पढ़ा कि नही ?" उत्तर मिला— "हिदायत को पढ़ते है और पीते भी है।" इसका अर्थ है कि आज मानव अपने स्वास्थ्य के प्रति जागरूक नही है। भयंकर बीमारियो को आमत्रण दिया जा रहा है। यहा तक कि कैसर जैसी लाइलाज बीमारी के प्रति भी लापरवाह है।

कारण है तनाव

जब हम नशे का कारण खोजते है तो पता लगता है कि आदमी मे तनाव बहुत है। अगर तनाव नही हो तो आदमी नशा भी क्यो करेगा ? तनाव रहित व्यक्ति कभी जानबूझ कर पागल थोड़े ही बनता है, बल्कि सत्य तो यह है कि व्यक्ति अपना तनाव समाप्त करने के लिए नशे का आदी हो जाता है। आदमी मे भय, चिन्ता या मानसिक तनाव होता है तो वह उससे छुटकारा पाने के लिए नशा भी करता है। हालाकि अब वर्तमान सामाजिक ढांचे में भौतिकता एव पाश्चात्य सस्कृति की अन्धी दौड़ मे स्त्रियो के शामिल होने के प्रयास से चिताए बढ़ी है और इसी कारण आ महिला वर्ग ने भी अपने-आप को नशे की पक्ति मे स्थापित कर दिया है। आज व्यक्ति की सामाजिक चिताए जैसे— घर खर्च, शादी-विवाह, दहेज का दावानल आदि सभी ने मिलकर तनाव का वातावरण बना दिया है। इस वातावरण से प्रताड़ित होकर व्यक्ति तनावो से क्षण भर मुक्ति पाने के लिए नशे की शरण प्राप्त करता है।

सपर्क और संगति

व्यक्ति का भावनाशील होना भी उसके लिए बड़ा खतरा साबित होता है। जीवन-सफर मे विविध मोड़ों पर सम्पर्क मे आने वाले उनके साथी हितैषी भी ऐसी आदत डाल देते है। आपसी सम्पर्क एव सगति के कारण उनके आग्रहवश एक बार पीने वाला व्यक्ति हर बार पीने लगता है। यही हर बार पीना उसकी आदत में परिवर्तित होते ही वह उसका शिकार हो जाता है। फिर बिना नशा किए उसका जीवन दूभर हो जाता है; तो व्यक्ति को वह जहर बार-बार गले से उतारना ही पड़ता है। फिर तो वह अपने जीवन की शेष सासे शराब के प्याले मे, सिगरेट के धुए मे ही देखता है अर्थात् उसका जीवन नशे मे बन्दी हो जाता है।

विज्ञापन

देश के हर कोने मे किसी वस्तु को प्रसारित करने के लिए विज्ञापन अपनी अहम्
भूमिका निभाते है। इसी का फायदा उठाया है नशीली वस्तुओ को बेचने वाली कम्पनियो
ने। इन कम्पनियो ने इस प्रकार से नशीली वस्तुओ को विज्ञापित किया कि व्यक्ति उसकी
ओर आकर्षित हुए बिना नही रह सकता। नशीली वस्तुओ मे कुछ महक, सुगध करने
से व्यक्ति उसकी खुशबू के पीछे खिचा चल जाता है। खाने वाले को लगता है कि जैसे
अमृत मिल गया है। नशीली चीजो को खाने के बाद थूकना भी नही चाहता। एक बार
के प्रयोग से लगता है कि जैसे वह दूसरी ही दुनिया मे चला गया हो। फिर उससे छुटकारा
पाना भी मुश्किल हो जाता है। नशा किए बगैर रहा नही जाता।

शराब भी बड़ी तेजी के साथ फैलती चली जा रही है। कई ऐसी जातिया, जो
पहले शराब से मुक्त थी, वे भी आज इस ओर बड़ी उग्रता से बढ़ती जा रही है। शराब
पीकर कोई पागल तो नही बनना चाहता, मगर अपने तनावो को सहन भी नही कर सकता
परिणाम होता है— व्यक्ति का शराबी बन जाता है।

उन्माद मे क्या नही होता ?

एक शराबी पीकर सड़क के बीच मे लेट गया। सामने से एक तागे वाला आया।
उसने कहा— "सड़क के बीच मे कौन सोया है ? हटो।" एक-दो बार कहा तो भी
वह न हटा। तागे वाले ने गुस्से मे आकर कहा— 'हटते हो या नही ? मै तागा ऊपर
से निकाल दूगा।" शराबी बोला— "निकाल दे, मेरा क्या लेता है ?" तागे वाले ने कहा—
"मेरा क्या लेता है ? तेरा पैर कट जाएगा।" नशे मे चूर शरीबी बोला— "कट जाएगा
तो मेरा क्या लेता है।" तागे वाले ने कहा— "पागल, पैर तेरा नही है क्या ?" शराबी
बोला— "मेरा कहा है ? मेरे पैर मे जूता था, इस पैर मे नही है, यह पैर मेरा नही है।"
यह है शराब का पागलपन।

ऐसी ही एक दूसरा उदारहण है— एक शराबी नशे मे डूबा हुआ घर आ रहा था
कि लड़खड़ा कर एक खड्डे मे गिर गया। काफी खरोंचे आई, हाथ-पैर एव चेहरे पर।
चेहरे से खून बह रहा था। घर पहुंचने पर पत्नी ने देखा तो वह बहुत शर्मिन्दा हुई पति
से बोली— "आप स्नानघर मे जाकर काच मे देखकर अपने मुह पर महिम लगाओ।"
शराबी अन्दर आया और सो गया। पत्नी ने देखा— खून तो अभी भी चेहरे से बह रहा
है। वह बोली— "आपने मल्हम नही लगाई।" पति बोला— 'अभी-अभी तो स्नानघर
से लगाकर आया था।" जब उसकी पत्नी स्नानघर मे गई तो देखा— काच पर मल्हम
लगी हुई थी। यह भी एक शराबी के नशे का ही पागलपन है।

इस तरह के न जाने कितने प्रसग है, जिनमे आदमी अपनी सुध-बुध खोकर प्रमाद
मे चला जाता है, वह अपने अच्छे-भले स्वास्थ्य से भी हाथ धो बैठता है।

सेना के एक बड़े अफसर का पत्र मिला— "मै बहुत शराब पीता हू। स्वास्थ्य बिगड़ गया। लीवर फैफड़ा खराब हो गया है। हार्ट भी कमजोर हो गया। डॉक्टर कहता है— शराब पीओगे तो मर जाओगे। मै छोड़ना चाहता हू पर छूट नही रही है। आप कोई उपाय बताए।"

उभरती समस्या और परिणाम

सचमुच नशे से आदमी बड़ी विकट स्थिति मे चला जाता है। आज नशे का खतरा चरस, गाजा, हेरोइन, ब्राउन शुगर आदि नशीली दवाइयो के रूप मे इस हद तक पहुच गया है कि यह समस्या उग्र रूप से उभर कर आई है। आज इस समस्या ने बाकी सब समस्याओ को पीछे छोड़ दिया है। विश्वविद्यालय एव शिक्षण सस्थान तो इसके अड्डे बनते जा रहे है। इन नशीले पदार्थो की तस्करी भी इतनी बढ़ गई है कि रोज अखबार के पृष्ठ इन्ही खबरो से भरे रहते है। करोड़ो-करोड़ो रुपयो की हेरोइन एव अन्य नशीले पदार्थ सीमाओ पर पकड़े जाते है। अब तो अतर्राष्ट्रीय माफ़िया गिरोह भी हो गए है जो बड़ी ही सतर्कता से यह तस्करी करता है।

मद्रास की महिलाओ ने एक प्रदर्शन किया। उन्होने राज्यपाल के पास जाकर एक ज्ञापन दिया कि शराब के कारण हमारे घर बर्बाद होते है अत शराब को जैसे-तैसे बन्द किया जाए। पुरुष लोग घर की चिन्ता भी नही करते वे मस्ती मे पीते चले जाते है। घर-परिवार के प्रति महिलाओ का ध्यान ज्यादा रहता है। अत महिलाए ज्यादा परेशान है।

इस समस्या पर कई स्वयसेवी एव धार्मिक सस्थाओ का भी ध्यान गया है। अणुव्रत आन्दोलन मे एक नियम है कि मै मादक द्रव्यो का सेवन नही करूगा लेकिन नशा केवल कहने सुनने से नही छूटता है। उसके लिए तो प्रयोग करने होगे।

नशे के ग्लानि या अरुचि पैदा की जाती है। इस दृष्टि से कान का उपयोग किया जाता है। जैसे कान हमारे सुनने के काम आते है लेकिन इसके और भी उपयोग है। कान हमारे जीवन का प्रतिनिधित्व करते है। गर्भस्थ शिशु और बच्चे के कान का आकार समान होता है। कान मे लाखो लाख स्नायु है जो कि हमारे सम्पूर्ण शरीर के साथ जुड़े हुए है। मस्तिष्क से लेकर पैर तक एक जाल बिछा हुआ है। कान का सबध पेट से जुड़ा हुआ है। पाचन शक्ति के कमजोर होने पर कान का उपयोग होता है। महिलाए कान मे बालिया इसीलिए पहनती है कि इससे आवेग पर नियत्रण रहता है।

कान का एक उपयोग नशे की वृत्ति को छोड़ने मे भी है। इसका दूसरा नाम है अप्रमाद केन्द्र। कान आदमी की जागरूकता का केन्द्र है। सब जानते है कि आदमी से यदि भूल हो जाती है तो वह कान पकड़ता है। मतलब साफ है कि मेरी भूल हो गई है— आगे से ऐसी भूल नही करूगा।

शुभकरण ने कहा— "मै ऐसा नही मानता। तुम मुसलमान हो। कुरान की कसम खाओ और कहो, अब मै सिगरेट नही पीऊगा।" वह युवक सीट से उठा और पैर छूकर बोला— "मै कुरान की कसम खाकर कहता हू कि अब नही पीऊगा।"

यह अनुलाम-विलोम श्वास का प्रयोग इतना महत्त्वपूर्ण है कि इससे आदत छूट जाती है।

कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग नशा-मुक्ति का अचूक उपाय है। कई लोगो पर इसका प्रयोग किया जाता रहा है। अधिक से अधिक लोगो तक यह बात पहुचाई जा रही है। एक बात तो साफ है कि आदमी चिता में ज्यादा नही जी सकता। उसके लिए ही वह शरीब पीता है। क्या ध्यान भी कोई कम शराब है ? ध्यान मनुष्य को एक ऐसी मस्ती मे ले जाता है कि वह एक अलग ही दुनिया है। वहा जाने पर सारी चिताए मिट जाती है। सारे तनाव समाप्त हो जाते है। इस सच्चाई को उजागर किया जाए। केवल उपदेश ही न दिए जाए अपितु प्रयोग करवाए जाए। इससे मनुष्य-मनुष्य का भला होगा। एक शक्तिशली वातावरण का निर्माण होगा और लोगो को अपनी अपनी आदतो से बचने का तरीका उपलब्ध हो सकेगा।

समस्या यानी सत्य की अनभिज्ञता

इस दुनिया मे सबसे बड़ी समस्या है सत्य को न जानना । सारी कठिनाइयो और समस्याओ का मूल है सत्य को न जानना । आदमी यदि सत्य को जान लेता तो कोई समस्या नही होती । दुनिया मे वस्तुत कोई समस्या है ही नही, केवल सत्य की अनभिज्ञता ही समस्या है ।

सह अस्तित्व. सह अव स्थान

अभी रात है, किन्तु फिर भी प्रकाश देख रहा हू । रात मे भी बिजली से प्रकाश जगमगा रहा है । प्रकाश और अन्धकार दोनो विरोधी युगल है किन्तु इनमे नितान्त विरोध नही है । दोनो एक साथ आ जाते है । सह अस्तित्व और सह-अवस्थान दोनो ही जरूरी है । स्याद्वाद विरोधी तत्त्वो के सहावस्थान की व्याख्या करता है । दो विरोधी बातो का एक साथ स्वीकार ही है स्याद्वाद और अनेकान्त । अनेकान्त और स्याद्वाद का फलित है सह-अस्तित्व ।

सह-अस्तित्व सत्य से फलित होता है किन्तु इस सत्य को पाने मे अनेक कठिनाइयां है । मोह की कठिनाई है, सस्कारो की बाधा है और सबसे प्रबल कठिनाई है पकड़ या आग्रह की । ये व्यक्ति को सत्य तक पहुचने नही देते । मनुष्य की बात छोड़ दे, कुत्ते को भी मोह हो जाता है और झूठे व्यामोह मे वह फंस जाता है । एक धोबी के दो औरतें थी और वे आपस मे बहुत झगड़ती रहती थी । उसी धोबी के घर पर शतादा नाम का कुत्ता रहता था । जब दोनो पत्निया आपस मे झगड़ती तो एक दूसरे को 'शतादा की राड' कहकर गालिया देती और मारपीट करती । इन झगड़ों मे कुत्ते को रोटी नहीं डाली जाती और वह भूख से अधमरा हो गया ।

एक दिन दूसरी गली का कुत्ता उधर आ निकला और शतादा की हालत देखकर कहा— "मित्र ! यहा भूख से क्यो मर रहे हो ? मेरे साथ दूसरे मुहल्ले मे चलो, वहा भरपेट भोजन मिलेगा ।" शतादा ने कहा— "मित्र ! यह रोटी की कठिनाई [illegible] ? [illegible] दोनो पत्नियो को छोड़कर कैसे जा सकता हू ?"

केवल गालियो मे कुत्ते का नाम आने मात्र से वह कुत्ता उनको [illegible] [illegible] मान बैठा था । क्या यह व्यामोह नही ? एक नाम के [illegible]

अनुभूति की वेदी पर संयम का प्रतिष्ठान

एक शरीर है और इन्द्रिया पाच है। इनके अतिरिक्त एक मन भी है जो हमारी इन्द्रियो को सचालित करता है। ये छह सम्पर्क-सूत्र हमे बाह्य जगत् से जोड़े हुए है। यदि ये सम्पर्क-सूत्र नही होते तो न कोई देखने वाला होता और न कुछ दृश्य, न कोई सूंघने वाला होता और न कोई घ्राण। इन्द्रियो और मन के अभाव मे बाह्य से सम्पर्क नही रहता और सब अपने आप मे होते। इन्द्रियो और मन ने ऐसा धागा प्रस्तुत किया कि आदमी जुड़ गया। सूई धागे को लेकर चलती है और दो टुकड़ो को जोड़ती है। इन्द्रिया भी सूई का काम करती है। आज अकेला जैसा कुछ भी नही है। जहा दो होते है वहा भय प्रारम्भ हो जाता है किन्तु कठिनाई यह है कि एकाकीपन मे मन नही लगता। उपनिषद् मे कहा— "स एकाकी नैव रेमे।" भगवान का भी अकेले मन नही लगा इसलिए "एकोऽहम् बहुस्याम्" की भावना से सृष्टि -रचना की गई। इसलिए जहा दो है, वहा सयम की आवश्यकता है।

इन्द्रियो का स्वभाव

सयम से सुरक्षा होती है। स्वय अपनी सुरक्षा और सामाजिक सुरक्षा—दोनो ही इससे प्राप्त होती है। जहा व्यक्ति दूसरो के साथ अपना उचित सामजस्य नही बना पाता, वहा व्यक्ति का व्यक्तित्व खडित हो जाता है। इन्द्रियो का स्वभाव है, सयम से विमुख जाना और हमारा लक्ष्य है, सयम की ओर अग्रसर होना। आज मनुष्य की वाणी मे सयम नही, स्वाद का सयम नही, दृष्टि का सयम नही और श्रवण आदि का भी सयम नही। ऐसे भोजनभट्ट आपको मिलेगे, जो जीने के लिए नही खाते, केवल खाने के जीते है। शास्त्रो मे कहा है—

"आहारार्थ कर्म कुर्यादनिन्द्य स्यादाहार प्राणसधारणाय।
प्राणा धार्या तत्व जिज्ञासनाय, तत्व ज्ञेय येन भूयो न भूयात्॥"

—'आहार के लिए भी वही कर्म करना चाहिए जो निन्दनीय नही हो। आहार भी प्राणो को धारण करने के लिए ही किया जाना चाहिए। परन्तु आज के विपरीत देखने मे आता है।

एक चौबेजी के पुत्र ने अपने पिता से कहा— 'पिताजी! आज तो बड़ी दुविधा

अनुभूति की तीव्रता के हेतु

अनुभूति की तीव्रता के तीन कारण है— शब्द, अनुमान और प्रत्यक्षीकरण।

शब्द से जानकारी होती है, वस्तु का ज्ञान होता है किन्तु शाब्दिक ज्ञान मे अनुभूति नही होती, केवल ज्ञान होता है। शास्त्रो से जो सुनते है, वह शाब्दिक ज्ञान होता है, अनुभूति नही होती। इसलिए हजारो वर्षो से शास्त्र सुनकर भी तदनुरूप क्रिया नही होती। ज्ञान और अनुभूति दो चीजे है। चीनी को खाने के पहले उसका ज्ञान हो सकता है किन्तु खाये बिना अनुभूति नही होती है।

दूसरा अनुमान है। धुआ देखकर अग्नि का अनुमान किया जा सकता है। शाब्दिक ज्ञान के साथ अनुमान जोड़ने से थोड़ी अनुभूति होती है , किन्तु अनुभूति की तीव्रता इसमे भी नही आ पाती।

अनुभूति की पूरी तीव्रता प्रत्यक्षीकरण मे होती है। सयम के प्रति तीव्र अनुभूति नही है, क्योकि उसका प्रत्यक्षीकरण नही है, केवल शाब्दिक और आनुमानिक ज्ञान है। अहिसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि अच्छा है। यह कैसे जाना ? आप कहेंगे कि शास्त्रो मे लिखा है, महापुरुषों और भगवान् ने कहा है। यह केवल शास्त्रो मे लिखा है। जीवन मे अनुभव नही किया है। केवल पढ़कर या सुनकर आप भी उसे वैसा कह देते है।

जीवन की विसंगति

एक व्यक्ति ससुराल से अपने घर आया आते ही आगन मे बैठकर रोने लगा। लोगो ने रोने का कारण पूछा तो जोर-जोर से रोते हुए कहा— 'मेरी स्त्री विधवा हो गई ? उसने कहा—'मेरी ससुराल वालो ने कहा है, वे क्या झूठ बोलते है ?'

आज स्थिति कुछ ऐसी ही है। दूसरो के माध्यम से किसी बात को स्थापित करना चाहते है, स्वय के अनुभव से नही बता पाते। जीवन की कितनी विसगति है ? सयम से तृप्ति मलती है। विकास होता है, ऐसा प्रत्यक्षीकरण का प्रमाण देने वाले कितने मिलते है ?

बहुत है भारवाही

अणुव्रत की चर्चा इस सदर्भ में करे। यदि त्याग की भावना से स्वर्ग-नरक को जोड़कर अणुव्रत को देखेगे तो कम प्राप्त कर सकेगे। अणुव्रत धर्म क्राति का स्वर है किन्तु धर्म के साथ स्वय की अनुभूति नही जोड़ेगे तो धर्म के ऋणी बन सकते है परन्तु लाभ नही उठा सकेगे। विचारो, धारणाओ और सस्कारो का आदमी भार ढोता है। किन्तु जीवन मे उन्हे मूर्तरूप देने का, व्यवहार मे उतारने का मौका नही देता। जीवन मे भारवाही बहुत बनते है किन्तु रस उठाने वाले नही होते है।

लखपति, करोड़पति व्यक्तियो को देखता हू और उनको कई बार कहता हू कि तुम सबसे बड़े नौकर हो। दिनभर पैसे की नौकरी निभाना तुम्हारा काम है, अन्य कुछ

र्म नही। आप भी अपने जीवन पर विचार करे, आत्म-निरीक्षण करे। अतीत का सिंहावलोकन करके देखे। व्रत के प्रति दृष्टिकोण बनना चाहिए था वह नही बन पाया है, अणुव्रत के प्रति जो निष्ठा उत्पन्न होनी चाहिए थी वह नही हो रही है।क्योकि लोगो ने सोच लिया है कि त्याग और बलिदान के बिना ही कोई सस्ता लाभ मिल जाए। पूजा-पाठ पडितजी कर दे और लाभ सेठजी को मिल जाए। आज तो विज्ञान के युग मे व्यक्ति खाने और पचाने से भी बचना चाहता है।

हमे अपनी अनुभूति तीव्र बनानी चाहिए अन्यथा सयम के प्रति आकर्षण नही होगा। जब तक सयम के प्रति आकर्षण नही होगा तब तक दूसरी ओर आकर्षण रहेगा। सिनेमा देखने का उपदेश नही दिया जाता, फिर भी लोग उधर भागते है। रोटी खाने का उपदेश किसी को नही दिया जाता, फिर भी प्रत्येक मनुष्य खाता है क्योकि उसकी प्रत्यक्ष तीव्र अनुभूति होती है। इसी प्रकार धर्म, सयम और व्रत की तीव्र अनुभूति हो जाए तो उपदेश की जरूरत नही।

विकल्प और लाभानुभूति

विकल्प और लाभानुभूति दो ऐसी बाते है जिनसे जनता आकृष्ट होती है। धर्म एव सयम मे क्या लाभ होता है, यह अनुभूति करा दी जाए एव असयम के विपरीत सयम का विकल्प दिया जाए तो सहज ही आकर्षण बढ़ेगा। आजकल ध्यान का अभ्यास लाभ के साथ जोड़ा जाता है। कहा जाता है कि ध्यान से व्यापार मे ज्यादा सफलता मिलती है और फिर व्यापारी वर्ग ध्यान की ओर मुड़ता है, क्योकि उसमे उसे लाभ मिलने की सम्भावना है। सयम के साथ भी लाभ जुड़ा है। सच्चा, प्रामाणिक एव ईमानदार रहकर श्रम करने वाले को अनेक प्रकार का लाभ होता है किन्तु इसकी तीव्र अनुभूति करानी और करनी होगी। इसके लिए जीवन के आकर्षण को बदले। अनुभूति की तीव्रता होगी, सयम का आकर्षण होगा तो फिर उपदेश की जरूरत ही नही रहेगी।

पूंजीवाद और अणुव्रत

पूजी साथ जब से वाद जुड़ा है तब से विकृतिया आयी है। वैसे पूजी दुनिया की सबसे बड़ी शक्तियो मे से एक है। जीवन व्यवहार मे कुछ ऐसी शक्तिया होती है, जिनके आधार पर व्यक्ति जीता है। जीवन मे उन शक्तियो की नितान्त आवश्यकता होती है। शक्तिहीन को दुनिया मे कोई भी नही चाहता, उसे आदर नही मिलता। आग जलती है तो उस पर सबका ध्यान रहता है लेकिन बुझी आग पर छोटा बालक भी पैर रखकर निकल जाता है। जलती आग मे तेज है इसलिए उसके प्रति आदर है किन्तु राख के प्रति नही। इसलिए महाभारत मे विपुला ने अपने पुत्र से कहा— "पुत्र! तुम प्रज्वलित अग्नि की तरह तेज बनकर भले एक मुहर्त के लिए जीओ, यह अच्छा है किन्तु धुआ बनकर चिरकाल तक जीना अच्छा नही।"

आकर्षण पर टिका है ससार

जहा शक्ति है वहा आकर्षण है, वही झुकाव होता है। यह सारा ससार आकर्षण के कारण ही टिके हुए है अन्यथा उथल-पुथल और प्रलय मच जाता। धन दुनिया की बड़ी शक्ति है, इससे जीवन की व्यवस्था बनती है, अन्यथा गड़बड़ा जाती है। भूख लगने पर रोटी चाहिए, दूध-फल आदि की आवश्यकता है। वस्त्र, मकान आदि की जरूरत है और इन सबका क्रय विक्रय पैसे के आधार पर होता है। इसमे किसी प्रकार का सदेह नही कि पूजी और धन इन सब वस्तुओ की प्राप्ति के लिए आवश्यक होता है। इसीलिए सस्कृत कवियो ने 'सर्वेगुणा काचनमाश्रयन्ति' तक कह दिया। जिसने पूजी को ठुकराया और त्यागा, वह भी पैसो के आकर्षण मे आ जाता है। पूजी और अर्थ का महत्व मानना ही होगा।

आज पूजीवाद शब्द विकृत हो गया है। पूजीवाद से बोध होने लगा पिछड़ेपन का। पूजीवाद खून चूसने और शोषण करने का प्रतीक बन गया। पूजी बुरी नही, वाद बुरा है। इसी वाद से बुराई होती है। पूजीवाद भी शब्दो के जाल तरह विकृत बना है।

बीत गया निधान का युग

अणुव्रन अर्थात् सयमन। सव चीजो के साथ साथ पूजी और पैसो का भी सयमन

करें। प्रश्न होगा कि यदि पैसा शक्ति है तो फिर संयमन क्यो ? एक व्यापारी पूजी के संयमन की कभी नही सोचता है। दिल्ली में एक उद्योगपति से मैने पूछा कि चलीसो फैक्टरिया होते हुए भी नए-नए कारखाने क्यों खोल रहे है ? उन्होंने कहा कि एक फैक्टरी के लिए दूसरी पूरक फैक्टरी खोलनी ही पड़ती है। आज अर्थ को गाड़कर रखने का युग नहीं, निधान का युग बीत गया। पैसो को घूमते रहना चाहिए। दिल्ली में पूज्य गुरुदेव के दर्शनार्थ आए एक जर्मन अर्थशास्त्री ने कहा— अर्थ को घुमाते रहना चाहिए। उसे निकम्मा नही रखना चाहिए।

अर्थशास्त्र की नीति

आज के अर्थशास्त्र की नीति है— परिवर्तन और पूजी का सक्रमण। इससे पूंजी का विकास होगा। सग्रह के विकास पर भी नया शास्त्र आ गया है। मार्क्स ने [illegible] पर बल देते हुए जब कहा कि पूंजी का एकत्रीकरण नही करना चाहिए तब वह नया था लेकिन दार्शनिक दृष्टि से यह पुराना विचार है। यह दुनिया किसी एक व्यक्ति की दुनिया नही, इस दुनिया में किसी एक को ही जीने और सुख से रहने का अधिकार नही है। आज कर्म के बारे मे पुरानी विचारधाराओ को नही माना जा सकता। केवल भाग्य से ही दुख और सुख की बात प्रमाणित नहीं हो सकेगी। जिन्होने पुरुषार्थ और [illegible] पर भरोसा किया, उन्होने अपने भाग्य को बदल डाला।

बदला है युग

एक युग था जब राजाओ को ईश्वर का अवतार माना जाता था। ईश्वर के अवतार की बात पुरानी पड़ गई। अब यहां कोई राजा ईश्वर का अवतार नही। कोई भी [illegible] व्यक्ति जन्म लेता है और अपने पुरुषार्थ से अपने कर्तृत्व से [illegible] राष्ट्रपति बन जाता है। पुराने राजा से आधुनिक राष्ट्रपति [illegible] का अधिकार बहुत अधिक है।

आज स्थिति मे अन्तर आ गया है। कर्मवाद के सिद्धान्त [illegible] धारणाओ मे सुधार करने का मौका मिला है। [illegible] नही देने की बात कही जाती थी, लेकिन आधुनिक [illegible]

है। वह भेड़िया और जंगली पशु भी नही है, जो भूखा होकर किसी पर झपट पड़े। फिर वह ऐसा क्यो करता है ? वह परिग्रह के कारण झपटता है। जिसके हाथ मे परिग्रह है, वह सब कुछ कर सकता है— यह विचार इतना बढ़ा कि उसने मनुष्य मे मतिभ्रम पैदा कर दिया है। उनकी सारी आस्था इस विचार के कारण हट जाती है। इसलिए क्राइस्ट ने कहा— 'ऊँट का सूई की नोक से निकलना सम्भव है किन्तु धनी व्यक्ति का स्वर्ग मे प्रवेश असम्भव है।'

व्रत का चिन्तन

महावीर, कृष्ण, बुद्ध, ईसा किसी का भी हो, यह विचार सही था कि परिग्रह के प्रति आसक्ति नही हो। यह था व्रत का चिन्तन। परिग्रह रखने का अधिकार किसी को नही है, यह आज के अधिकार की भाषा है। जहा राजनीति है वहा अधिकार की भाषा होगी। अपरिग्रह की बात पाप और धर्म की भाषा मे कही गई थी। यदि वह पुरानी बन गई तो उसे युगानुकूल रखना होगा। अध्यात्म ने कहा कि परिग्रह और सग्रह नही करे। उसने जीवन की अनिवार्य आवश्यताओ पर रोक नही लगाई। यदि जीवन की आवश्यकताओ पर रोक लगाई जाती तो हिन्दुस्तान भिखारियो का देश होता, यद्यपि कुछ लोगो ने धर्म के नाम पर भिखारीपन को बढ़ावा दिया है, भिखारी बढ़ाये है।

जिसके पास दो हाथ और दस अगुलिया है, उसे किसी अन्य से कुछ नही चाहिए। सब रचनाए इन दस अगुलियो से ही टपकती है। चित्र, काव्य, निर्माण और बीज सब इन दो हाथो की दस अगुलियो की ही बात है। यह पुरुषार्थ का सिद्धान्त था, जिसके आधार पर यह सिद्धान्त आया— जो पुरुषार्थ करो उसमे दूसरो का हिस्सा मत लो। यह अचौर्य की परिभाषा है। दूसरो की चीज उठाना ही चोरी नही है बल्कि भागवत मे कहा है— 'जितने से व्यक्ति का पेट भरता है उतना ही उसका स्वत्व है। उतने का ही वह अधिकारी है। अधिक सग्रह करने वाला चोर है और वह दण्ड का भागी है।'

शायद इतना कठोर आदेश मार्क्स और लेनिन ने भी नही दिया।

प्राकृतिक चिकित्सा है अणुव्रत

दूसरो को प्राप्त होने वाले तत्त्व से रोक देने की प्रवृत्ति ठीक नही। तुगभद्रा को बाधना ठीक हो सकता है लेकिन यदि नहरे नही निकाली जाए तो वह प्रलय मचा सकता है। धन की प्रक्रिया क्या इससे भिन्न हो सकती है ? विसर्जन की प्रणाली से रहित सग्रह क्या खतरनाक नही होता ? पूजीवाद के सशोधन के प्रयास हो रहे है लेकिन गुत्थी सुलझी नही है। आर्थिक कठिनाइयो से मनुष्य यन्त्र बन गया। होना यह चाहिए कि सग्रह भी न हो और मनुष्य का स्वतन्त्र अस्तित्व भी रहे, उसकी इकाई बनी रहे। इस विन्दु पर अणुव्रत की उपयोगिता सामने आती है। हृदय-परिवर्तन के द्वारा जो सग्रह की समस्या सुलझेगी वह दोष से मुक्त होगी। यह अणुव्रत एलोपैथिक चिकित्सा नही है, जो रोग

को दबा दे। अणुव्रत प्राकृतिक चिकित्सा है, जहा दोष दबाये नही जाते, नष्ट किये जाते है।

हृदय शुद्धि की प्रक्रिया

व्रत व्यक्ति के हृदय शुद्धि की प्रक्रिया है। व्यवस्था और हृदय परिवर्तन दोनो का योग होना चाहिए। समाजवाद मे व्यवस्था है किन्तु अध्यात्म और हृदय-परिवर्तन नही रहने के कारण वहा अधिनायकवाद पनपता है। व्रत के साथ हृदय परिवर्तन है किन्तु वहा व्यवस्था की ओर ध्यान न दिए जाने के कारण जीवन पद्धित और व्रत मे तालमेल नहीं बैठता। व्रत और व्यवस्था दोनो का सामजस्य होगा तभी नया परिणाम आयेगा। व्यवस्था का सुधार हो और व्रत का जीवन मे प्रयोग। व्रत की भावना विकसित हो। सरकार व्यवस्था मे परिवर्तन करे। रूपक की भाषा मे कहना चाहूगा कि जिस दिन ऋषि और राजनीतिज्ञ का समन्वय होगा तभी यह समस्या सुलझेगी। अध्यात्म और राजनीति दोनो विपरीत दिशाओ मे न चलकर समानान्तर रेखा पर चलेगे, तब समाधान के निकट जायगे। अध्यात्म और व्यवस्था का योग होने से पूजीवाद के दोष समाप्त होगे, पूजीवाद की शुद्ध शक्ति सामने आएगी और विकृति मिट जायेगी। तब फिर वर्गो का तनाव, सघर्ष और परस्पर काटने की बात नही होगी। भय नही होगा, तनाव नही होगा क्योकि वहा सविभागी व्यवस्था होगी।

सभ्यता और शिष्टाचार

सभ्यता और शिष्टता, ये दोनो सामाजिक जीवन के अलकरण है। हर सामाजिक मनुष्य सभ्य और शिष्ट होना चाहता है। किन्तु सभ्य और शिष्ट वही बन सकता है जो अपनी ऊर्मियो (आवेगो) पर नियत्रण रख सकता है। मनुष्य मे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अनेक ऊर्मिया होती है। ये एक सीमा तक सामाजकि जीवन मे खप जाती है। किन्तु सीमा का अतिक्रमण होने पर ये भयंकर बन जाती है।

शांति का सूत्र

पारिवारिक जीवन मे शांति बनाये रखने का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है क्रोध की मात्रा को कम करना। क्रोध से अपना व्यक्तिगत तथा पारिवारिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। क्रोधी आदमी का हर जगह से बहिष्कार किया जाता है।

हम चाडाल से घृणा करते है। यह हमारा अज्ञान है। क्रोधी मनुष्य घृणा का पात्र नही होता। हर आदमी में वही महान् आत्मा छिपी हुई है, जो हम मे है। हम कुछ बाहरी निमित्तो से बटे हुए है, फिर भी मौलिक रूप मे एक ही विशाल परिवार के सदस्य है।

जिस चाडाल से घृणा की जा सकती है, वह है क्रोध। क्या ऐसा कोई आदमी है जिसके घट मे क्रोध उफन रहा है और वह चांडाल नही है?

क्रोध है चाडाल

एक व्यक्ति नदी से स्नान कर आ रहा था। मार्ग मे वह चडालिन से छू गया। वह एक ही क्षण मे क्रोध से भर गया। उसकी आखे लाल हो गई। वह चडालिन पर बरस पड़ा। चडालिन कुछ देर सुनती रही। फिर भी उसका क्रोध शात नही हुआ। लोग इकट्ठे हो गए। चडालिन ने निकट आ उसका हाथ पकड़ लिया। लोगो ने कहा—'तुम ऐसा क्यो करती हो?' वह बोली—'यह मेरा पति है, मै इसे अपने घर ले जाना चाहती हू।' उसका क्रोध और बढ़ गया। उसने हाथ छुड़ाना चाहा पर चडालिन ने छोड़ा नही। आखिर पुलिस आयी। दोनो को पकड़ कर न्यायाधीश के सामने प्रस्तुत किया।

उस आदमी का क्रोध अब शान्त हुआ। उसे अपने किए पर अनुताप हुआ। न्यायाधीश ने पूछा—तुम किसलिए लड़े?'

चडालिन बोली—'मै अपने पति को अपने घर ले जाना चाहती थी और ये चल नही रहे थे, इसलिए लड़ाई हो गई ।'

'तुम अपने घर क्यो नही जा रहे ?' न्यायाधीश ने पूछा ।

वह बोला—'महाशय ! मै इसका पति नही हू, तब इसके घर कैसे जाऊ ?'

न्यायाधीश—'क्या यह तुम्हारा पति है ?'

चडालिन—'पहले था, अब नही है ।'

न्यायाधीश—पहले था, अब नही है—इसका अर्थ ?'

चडालिन—'जब तक इसके घट मे चडाल था तब तक यह मेरा पति था । अब इसके घट से चडाल निकल गया है, इसलिए अब यह मेरा पति नही है ।'

क्रोध की विफलता के सूत्र

जो क्रोध नही करता, वह महान् होता ही है किन्तु वह भी महान् होता है, जो क्रोध को विफल कर सकता है ।

क्रोध की विफलता के चार सूत्र है

१ जहा क्रोध आए वहा से उठकर एकान्त मे चले जाना ।

२ मौन हो जाना ।

३ किसी काम मे लग जाना ।

४ एक-दो क्षण के लिए श्वास को रोक देना ।

प्रदर्शन की वीमारी

जो अपने पास है। उसे दूसरो को दिखाना सामाजिक जीवन का महत्त्वपू अग है। इसलिए सामाजिक सगम-स्थल एक प्रकार से प्रदर्शन स्थल होते है। वे प्रदर्शन अक्षम्य हो जाते है। जो घर की होली जलाकर किये जाते है।

एक गरीब स्त्री किसी सेठ के घर गई, सेठानी ने चूड़ा पहना था। वह हाथीदात से बना हुआ और वहुत बढ़िया था। आसपास की स्त्रिया उसे देखने के लिए आ रही थी और उसे देख सेठानी को बधाइया दे रही थी। उस गरीब स्त्री ने यह सब देखा। उसके मन मे आया कि मै भी हाथीदॉत का चूड़ा पहनू और पड़ोसियो की बधाइया प्राप्त करू। वह घर गई। अपने पति से कहा—'मुझे हाथीदॉत का चूड़ा ला दो।' पति ने कहा—'रोटी बड़ी कठिनाई से मिलती है और तुम्हे चूड़ा चाहिए। यह नही होगा।' उसने कहा—'यह होगा। चूड़ा लाए बिना घर मे चूल्हा नही जलेगा।' पति ने बहुत समझाया पर उसने एक भी बात नही सुनी। आखिर पति ने हार मान ली। बेचारा बाजार मे गया। एक सेठ से कर्ज लेकर चूड़ा लाया। उसने बड़ी प्रसन्नता से चूड़ा पहना। वह झोपड़ी के द्वार पर आकर पीढ़े पर बैठ गई। हाथो को सामने लटका दिया। बहुत देर बैठी रही, पर उसे देखने के लिये कोई भी नही आया। एक दिन उसका वैसे ही बीत गया। दूसरे दिन उसने फिर वैसा ही किया पर उस दिन भी कोई नही आया। उसके मन मे प्रदर्शन की आग भभक उठी। उसने हाथ मे दियासलाई ली और झोपड़ी को सुलगा दिया। देखते-देखते आग की लपटे आकाश को छूने लगी। चारो ओर से लोग दौड़े। लोगो ने आग पर काबू पा लिया पर झोपड़ी जल कर राख हो गई। लोगो ने बड़ी सहानुभूति दिखाई। सबने कहा—'बेचारी आगे ही गरीव है और फिर कैसा वज्रपात हुआ कि जो कुछ था वह सब स्वाहा हो गया।' लोग सवेदना प्रकट कर रहे थे और उस स्त्री के मन मे प्रदर्शन की आग सुलग रही थी। लोगो ने पूछा—'बहन! तुम्हारे कुछ वचा कि नही?' वह वोली—'और कुछ नही बचा, केवल यह चूड़ा वचा है।' लोगो ने पूछा—'अरे, यह कव पहन लिया?' वह वोली—'यदि यह वात तुम पहले पूछ लेते तो मेरी झोपड़ी क्यो जलती?' लोग उसकी मूर्खता पर हॅसे और उनकी सहानुभूति आक्रोश मे वदल गई।

इस दुनिया मे चूड़ा दिखाने के लिए झोपड़ी फूकनेवालो की कमी नही है। क्या सामाजिक बुराइयो के पीछे इस प्रदर्शन की भावना का बहुत वड़ा हा[illegible]

मानव मन की ग्रन्थियां

कोई भी भौगोलिक राज्य उतना बड़ा नही है, जितना मनोराज्य है। कोई भी यान उतना द्रुतगामी नही है, जितना मनोयान है। कोई भी शस्त्र उतना सहारक नही है, जितना मन शस्त्र है। कोई भी शास्त्र उतना तारक नही है, जितना मन शास्त्र है। उसकी ग्रन्थियो को खोल फैलाया जाए तो पॉचो महाद्वीपो मे नही समा पाती। इस छोटे से शरीर मे इन असख्य ग्रन्थियो की सहति बहुत ही आश्चर्यजनक है। वे मुकुलित रहती है। सामग्री का योग मिलने पर उनके तार खुल जाते है। सामग्री का हमारे जीवन मे बहुत बड़ा स्थान है। आत्मा की प्रत्येक प्रवृत्ति उससे प्रभावित है। समुदाय भी एक सामग्री है। इसके योग मे मन की अनेक ग्रन्थिया सकुचित होती है तो अनेक विस्तार पाती है। मन विशाल होता है। समुदाय असत्य नही होता, विघ्न नही बनता। मन छोटा होता है, समुदाय बाधक बन जाता है। परिवार मे दो आदमी बढ़ते है तो पृथक्करण की प्रवृत्ति जाग जाती है। कुछ व्यक्तियो को पृथक्करण नही भाता, भले फिर दस व्यक्ति बढ़ जाए। ये दोनो मन की सकुचित और विकुचित ग्रनिथयो के ही कार्य है।

उष्ण और शीत ग्रथि

जहा दस आदमी रहते है, वहा अवाछनीय भी कुछ हो जाता है। एक व्यक्ति उसे देख तत्काल उबल पड़ता है और दूसरा उसका परिमार्जन करता है। ये दोनो मन की उष्ण और शीत ग्रन्थियो के ही परिणाम है।

अणु-बमो के परीक्षण हो रहे है। पर ये सहारक कम है। इन [illegible] मे अनन्त-अनन्त विषैले परमाणु भरे पड़े है। वे कभी विस्फोट नही करते। [illegible] व्यक्ति। जब उनके मन की ग्रन्थिया [illegible] की शका से खुलती है तभी [illegible] विस्फोट होता है।

विग्रह क्या है ?

[illegible] मारने वाला दूसरा कौन है ? हमारा मन जब अन्तर [illegible] जाते है। विग्रह और क्या है ? बाहर झाकने के लिए [illegible] परिवार मे जो कलह होती है, वह इसीलिए [illegible] दूसरो को अधिक देखना है। अपने को भी देखना [illegible]

प्रदर्शन की बीमारी

जो अपने पास है । उसे दूसरो को दिखाना सामाजिक जीवन का महत्त्वर्पू अग है । इसलिए सामाजिक सगम-स्थल एक प्रकार से प्रदर्शन स्थल होते है । वे प्रदर्शन अक्षम्य हो जाते है । जो घर की होली जलाकर किये जाते है ।

एक गरीब स्त्री किसी सेठ के घर गई, सेठानी ने चूड़ा पहना था । वह हाथीदात से बना हुआ और बहुत बढ़िया था । आसपास की स्त्रिया उसे देखने के लिए आ रही थी और उसे देख सेठानी को बधाइया दे रही थी । उस गरीब स्त्री ने यह सब देखा । उसके मन मे आया कि मै भी हाथीदॉत का चूड़ा पहनू और पड़ोसियो की बधाइया प्राप्त करू । वह घर गई । अपने पति से कहा—'मुझे हाथीदॉत का चूड़ा ला दो ।' पति ने कहा—'रोटी बड़ी कठिनाई से मिलती है और तुम्हे चूड़ा चाहिए । यह नही होगा ।' उसने कहा—'यह होगा । चूड़ा लाए बिना घर मे चूल्हा नही जलेगा ।' पति ने बहुत समझाया पर उसने एक भी बात नही सुनी । आखिर पति ने हार मान ली । बेचारा बाजार मे गया । एक सेठ से कर्ज़ लेकर चूड़ा लाया । उसने बड़ी प्रसन्नता से चूड़ा पहना । वह झोपड़ी के द्वार पर आकर पीढ़े पर बैठ गई । हाथो को सामने लटका दिया । बहुत देर बैठी रही, पर उसे देखने के लिये कोई भी नही आया । एक दिन उसका वैसे ही बीत गया । दूसरे दिन उसने फिर वैसा ही किया पर उस दिन भी कोई नही आया । उसके मन मे प्रदर्शन की आग भभक उठी । उसने हाथ मे दियासलाई ली और झोपड़ी को सुलगा दिया । देखते-देखते आग की लपटे आकाश को छूने लगी । चारो ओर से लोग दौड़े । लोगो ने आग पर काबू पा लिया पर झोपड़ी जल कर राख हो गई । लोगो ने बड़ी सहानुभूति दिखाई । सबने कहा—'बेचारी आगे ही गरीब है और फिर कैसा वज्रपात हुआ कि जो कुछ था वह सब स्वाहा हो गया ।' लोग सवेदना प्रकट कर रहे थे और उस स्त्री के मन मे प्रदर्शन की आग सुलग रही थी । लोगो ने पूछा—'बहन ! तुम्हारे कुछ बचा कि नही ?' वह बोली—'और कुछ नही बचा, केवल यह चूड़ा बचा है ।' लोगो ने पूछा—'अरे, यह कब पहन लिया ?' वह बोली—'यदि यह बात तुम पहले पूछ लेते तो मेरी झोपड़ी क्यो जलती ?' लोग उसकी मूर्खता पर हॅसे और उनकी सहानुभूति आक्रोश मे बदल गई ।

इस दुनिया मे चूड़ा दिखाने के लिए झोपड़ी फूकनेवालो की कमी नही है । क्या सामाजिक बुराइयो के पीछे इस प्रदर्शन की भावना का बहुत बड़ा हाथ नही है ?

मानव मन की ग्रन्थियां

कोई भी भौगोलिक राज्य उतना बड़ा नही है, जितना मनोराज्य है। कोई भी यान उतना द्रुतगामी नही है, जितना मनोयान है। कोई भी शस्त्र उतना सहारक नही है, जितना मन शस्त्र है। कोई भी शास्त्र उतना तारक नही है, जितना मन शास्त्र है। उसकी ग्रन्थियो को खोल फैलाया जाए तो पॉचो महाद्वीपो मे नही समा पाती। इस छोटे से शरीर मे इन असख्य ग्रन्थियो की सहति बहुत ही आश्चर्यजनक है। वे मुकुलित रहती है। सामग्री का योग मिलने पर उनके तार खुल जाते है। सामग्री का हमारे जीवन मे बहुत बड़ा स्थान है। आत्मा की प्रत्येक प्रवृत्ति उससे प्रभावित है। समुदाय भी एक सामग्री है। इसके योग मे मन की अनेक ग्रन्थिया सकुचित होती है तो अनेक विस्तार पाती है। मन विशाल होता है। समुदाय असत्य नही होता, विघ्न नही बनता। मन छोटा होता है, समुदाय बाधक बन जाता है। परिवार मे दो आदमी बढ़ते है तो पृथक्करण की प्रवृत्ति जाग जाती है। कुछ व्यक्तियो को पृथक्करण नही भाता, भले फिर दस व्यक्ति बढ़ जाए। ये दोनो मन की सकुचित और विकुचित ग्रनिथयो के ही कार्य है।

उष्ण और शीत ग्रंथि

जहा दस आदमी रहते है, वहा अवाछनीय भी कुछ हो जाता है। एक व्यक्ति उसे देख तत्काल उबल पड़ता है और दूसरा उसका परिमार्जन करता है। ये दोनो मन की उष्ण और शीत ग्रन्थियो के ही परिणाम है।

अणु-बमो के परीक्षण हो रहे है। पर वे सहारक कम है। इस [illegible] मे अनन्त-अनन्त विषैले परमाणु भरे पड़े है। वे कभी विस्फोट नही करते। [illegible] व्यक्ति। जब उनके मन की ग्रन्थिया [illegible] की शका से खुलती है [illegible] होता है।

विग्रह क्या है ?

जिससे दूसरो को देखता है। अपना काम दीखता है, दूसरो का आराम। अपनी विशेषता दीखती है, दूसरो की कमी। उस आराम मे से ईर्ष्या उपजती है और कमी से अह। मन की गाठ घुल जाती है। कलह का बीज अकुरित हो जाता है।

धर्म का पहला सोपान

मन की अन्तर्-मुखता केवल धर्म ही नही है, व्यवहार का दर्शन भी है। ग्रन्थिभेद धर्म का पहला सोपान है। उसके बिना सम्यग्-दर्शन नही होता। राग द्वेष इन दो शब्दो मे मन की अनन्त ग्रन्थिया समाविष्ट होती है। रागात्मक प्रवृत्ति से व्यक्ति एक मे अनुरक्त होता है। द्वेषात्मक प्रवृत्ति से वह दूसरे से दूर होता है। इस परिधि मे तटस्थता टूट जाती है। उसके बिना पारिवारिक जीवन कठिन हो जाता है।

सामुदायिकता जीवन की बहुत बड़ी कला है। समुदाय मे रहना बहुत बड़ी बात नही है। उसमे शान्ति, सामजस्य और प्रसन्नतापूर्वक रहना सचमुच बहुत बड़ी बात है और बहुत बड़ी कला है। इसकी साधना के लिए मन की कुछ ग्रन्थियो को खोलना पड़ता है और कुछेक को भारहीन करना पड़ता है। यह भारहीनता, जिसे हमारे धर्मग्रन्थो ने लाघव कहा है, सामुदायिकता का बहुत बड़ा मर्म है।

विस्मृति का वरदान

मै कोई नई बात नही कह रहा हू, वही कह रहा हू, जिसका जीवन मे अनेक बार अनुभव होता है। जिन लोगो ने स्मृति का अभिशाप भोगा है, वे बड़ी तीव्रता से अनुभव करते है कि विस्मृति वरदान है किन्तु बहुत दुर्लभ। स्मृति के वरदान से भी अधिक दुर्लभ।

स्मृति किसकी

१. स्मृति उसकी होती है, जो अतीत मे अनुभूत हो। जो हमने देखा, सुना, सवेदन किया, वह हमारी ज्ञानधारा मे समाकर सस्कार का रूप ले लेता है। निमित्त बनकर वह उद्बुद्ध होता है और अतीत वर्तमान मे प्रतिबिम्बित हो जाता है।

२ यह हमारे जीवन की ज्वलन्त समस्या है कि जिसकी स्मृति होनी चाहिए, उसकी विस्मृति हो जाती है और जिसकी विस्मृति होनी चाहिए, उसकी स्मृति होती रहती है।

३ उपकार की बात लोग भूल जाते है पर अपकार की बात नही भूलते। किसी मित्र के सामने आने पर सारी बाते याद नही भी आती पर शत्रु के सामने आते ही अतीत साकार हो उठता है।

वरदान भी, अभिशाप भी

भलाई के प्रति भलाई का हेतु भी स्मृति है और बुराई के प्रति बुराई का हेतु भी वही है। इसीलिए स्मृति वरदान भी है और अभिशाप भी। अकरणीय कार्य को भुलाकर हम बहुत बार ऐसी भूल कर बैठते है कि उसका परिणाम अच्छा नही होता। अकरणीय को बार-बार याद करके भी हम अपने प्रति न्याय नही करते। इसीलिए विस्मृति अभिशाप भी है और वरदान भी।

स्मृति के अभिशाप से वही मुक्त हो सकता है, जिसे [illegible] [illegible] प्राप्त हो। दुर्व्यसनो की स्मृति अभिशाप से भी [illegible] [illegible] [illegible] स्मृति ही असख्य आत्महत्याओ का हेतु बनती है। [illegible] [illegible] [illegible] बड़ी बाधा स्मृति ही तो है। स्मृति का सूत्र नही [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।

सुखी जीवन का मंत्र

जो साथ रहते है, उनमे कलह भी हो जाता है। जिसे विस्मृति का वरदान प्राप्त है, वह उसे भुला देता है और सुख रो जीता है। कुछ आदमी सुख से नही जी सकते। वे स्मृति के धागो मे उलझकर दूसरो पर आग उगलते रहते है।

मै जब-जब अपने सुखी जीवन की कल्पना करता हू, तब-तब भूलने का अभ्यास करता हू। उतना सब भूल जाना चाहता हू जितना सिर का भार है। बहुत याद रखना जरूरी नही। उतना ही काफी है, जितना जीवन-रथ को आगे ले जाए।

स्मृति ! तुम मेरे जीवन-रथ को पीछे की ओर घसीटना चाहो तो तुम्हे मेरा दूर से ही प्रणाम है।

जीवन-विकास के सूत्र

समानता

मेरा अस्तित्व मुझे प्रिय है। किन्तु 'मै' पर जैसा मेरा अधिकार है, वैसा अस्तित्व पर नही है। मुझसे जो भिन्न है, उसका भी अस्तित्व है और वह उसे उतना ही प्रिय है। जितना कि मेरा अस्तित्व मुझे प्रिय है। बाहरी उपकरणो की दृष्टि से हम भिन्न भी हो सकते है किन्तु अस्तित्व की शृखला मे हम सब समान है।

शरीर, भाषा, भौगोलिक सीमाए, सम्प्रदाय, जाति—ये सब समानता के समर्थक नही है किन्तु इनमे प्राण-सचार चैतन्य से होता है और उसके जगत् मे हम सब समान है, हमारे मन मे असमानता के सस्कार अधिक तीव्र है। हमारी इन्द्रिया बाहर की ओर झाकती है और जो बाहर है, वह सब असमान है। असमानता के भाव से प्रेरित होकर हम अपने ही जैसे लोगो के साथ अन्याय करते है। हमारी न्याय-बुद्धि तभी जागृत हो सकती है, जब हम समानता की धारा को अविरल प्रवाहित करे। लोकतत्र समानता की प्रयोग-भूमि है। समान अधिकार का सिद्धान्त दार्शनिक समानता का व्यावहारिक रूप है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह अपेक्षित है कि उसके नागरिको मे समानता के प्रति आस्था हो।

स्वतन्त्रता

कोई आदमी अन्याय करता है, इसका अर्थ है— वह दूसरे के अधिकार का अपहरण करता है। कोई दूसरे के अधिकार का अपहरण करता है, इसका अर्थ है वह उसे अपने तत्र मे रखना चाहता है। अपने तत्र मे रखने का अर्थ है उसे [illegible] [illegible] नही मानता।

सुखी जीवन का मंत्र

जो साथ रहते है, उनमे कलह भी हो जाता है। जिसे विस्मृति का वरदान प्राप्त है, वह उसे भुला देता है और सुख से जीता है। कुछ आदमी सुख से नही जी सकते। वे स्मृति के धागो मे उलझकर दूसरो पर आग उगलते रहते है।

मै जब-जब अपने सुखी जीवन की कल्पना करता हूं, तब-तब भूलने का अभ्यास करता हू। उतना सब भूल जाना चाहता हू जितना सिर का भार है। बहुत याद रखना जरूरी नही। उतना ही काफी है, जितना जीवन-रथ को आगे ले जाए।

स्मृति! तुम मेरे जीवन-रथ को पीछे की ओर घसीटना चाहो तो तुम्हे मेरा दूर से ही प्रणाम है।

जीवन-विकास के सूत्र

समानता

मेरा अस्तित्व मुझे प्रिय है। किन्तु 'मैं' पर जैसा मेरा अधिकार है, वैसा अस्तित्व पर नही है। मुझसे जो भिन्न है, उसका भी अस्तित्व है और वह उसे उतना ही प्रिय है। जितना कि मेरा अस्तित्व मुझे प्रिय है। वाहरी उपकरणो की दृष्टि से हम भिन्न भी हो सकते है किन्तु अस्तित्व की शृखला मे हम सव समान है।

शरीर, भाषा, भौगोलिक सीमाए,सम्प्रदाय, जाति—ये सब समानता के समर्थक नही है किन्तु इनमे प्राण-सचार चैतन्य से होता है और उसके जगत् मे हम सब समान है , हमारे मन मे असमानता के सस्कार अधिक तीव्र है। हमारी इन्द्रिया बाहर की ओर झाकती है और जो वाहर है, वह सव असमान है। असमानता के भाव से प्रेरित होकर हम अपने ही जैसे लोगो के साथ अन्याय करते है। हमारी न्याय-बुद्धि तभी जागृत हो सकती है, जव हम समानता की धारा को अविरल प्रवाहित करे। लोकतत्र समानता की प्रयोग-भूमि है। समान अधिकार का सिद्धान्त दार्शनिक समानता का व्यावहारिक रूप है। लोकतत्र की सफलता के लिए यह अपेक्षित है कि उसके नागरिको मे समानता के प्रति आस्था हो।

स्वतन्त्रता

कोई आदमी अन्याय करता है, इसका अर्थ है— वह दूसरे के अधिकार का अपहरण करता है। कोई दूसरे के अधिकार का अपहरण करता है, इसका अर्थ है— वह उसे अपने तत्र मे रखना चाहता है। अपने तत्र मे रखने का अर्थ है उसे वह अपने-जैसा नही मानता।

बुद्धि और कर्मजा-शक्ति की विविधता होती है। बुद्धिमान् और समर्थ व्यक्ति मन्दबुद्धि और अक्षम व्यक्तियो को शासित करता है। यह सर्वथा अनुचित भी नही है। उनका हित-सम्पादन करने के लिए यदि वह ऐसा करता है, तो कोई तर्क नही कि उसे अनुणदेय कहा जाए। यदि वह अपना हित-साधन के लिए उन्हे शासित करता है तो वह सामनता की आधार-शिला को जर्जरित करता है। दूसरो की स्वतत्रता मे अमिट विश्वास हो तो क्या कोई व्यक्ति अन्याय कर सकता है ? स्वतत्रता लोकतन्त्र की आत्मा

सुखी जीवन का मंत्र

जो साथ रहते है, उनमे कलह भी हो जाता है। जिसे विस्मृति का वरदान प्राप्त है, वह उसे भुला देता है और सुख से जीता है। कुछ आदमी सुख से नही जी सकते। वे स्मृति के धागो मे उलझकर दूसरो पर आग उगलते रहते है।

मै जब-जब अपने सुखी जीवन की कल्पना करता हू, तब-तब भूलने का अभ्यास करता हू। उतना सब भूल जाना चाहता हू जितना सिर का भार है। बहुत याद रखना जरूरी नही। उतना ही काफी है, जितना जीवन-रथ को आगे ले जाए।

स्मृति ! तुम मेरे जीवन-रथ को पीछे की ओर घसीटना चाहो तो तुम्हे मेरा दूर से ही प्रणाम है।

जीवन-विकास के सूत्र

समानता

मेरा अस्तित्व मुझे प्रिय है। किन्तु 'मैं' पर जैसा मेरा अधिकार है, वैसा अस्तित्व पर नही है। मुझसे जो भिन्न है, उसका भी अस्तित्व है और वह उसे उतना ही प्रिय है। जितना कि मेरा अस्तित्व मुझे प्रिय है। बाहरी उपकरणो की दृष्टि से हम भिन्न भी हो सकते है किन्तु अस्तित्व की शृखला मे हम सब समान है।

शरीर, भाषा, भौगोलिक सीमाए,सम्प्रदाय, जाति—ये सब समानता के समर्थक नही है किन्तु इनमे प्राण-सचार चैतन्य से होता है और उसके जगत् मे हम सब समान है, हमारे मन मे असमानता के सस्कार अधिक तीव्र है। हमारी इन्द्रिया बाहर की ओर झाकती है और जो बाहर है, वह सब असमान है। असमानता के भाव से प्रेरित होकर हम अपने ही जैसे लोगो के साथ अन्याय करते है। हमारी न्याय-बुद्धि तभी जागृत हो सकती है, जब हम समानता की धारा को अविरल प्रवाहित करे। लोकतत्र समानता की प्रयोग-भूमि है। समान अधिकार का सिद्धान्त दार्शनिक समानता का व्यावहारिक रूप है। लोकतत्र की सफलता के लिए यह अपेक्षित है कि उसके नागरिको मे समानता के प्रति आस्था हो।

स्वतन्त्रता

कोई आदमी अन्याय करता है, इसका अर्थ है— वह दूसरे के अधिकार का अपहरण करता है। कोई दूसरे के अधिकार का अपहरण करता है, इसका अर्थ है— वह उसे अपने तत्र मे रखना चाहता है। अपने तत्र मे रखने का अर्थ है उसे वह अपने-जैसा नही मानता।

बुद्धि और कर्मजा-शक्ति की विविधता होती है। बुद्धिमान् और समर्थ व्यक्ति मन्दबुद्धि और अक्षम व्यक्तियो को शासित करता है। यह सर्वथा अनुचित भी नही है। उनका हित-सम्पादन करने के लिए यदि वह ऐसा करता है, तो कोई तर्क नही कि उसे अनुपादेय कहा जाए। यदि वह अपना हित-साधन के लिए उन्हे शासित करता है तो वह सामनता की आधार-शिला को जर्जरित करता है। दूसरो की स्वतत्रता मे अमिट विश्वास हो तो क्या कोई व्यक्ति अन्याय कर सकता है? स्वतत्रता लोकतत्र की आत्मा

है। यदि उसे लोकतत्र से अलग कर दिया जाए तो लोकतत्र का अर्थ होगा निरकुश राज्य। स्वतत्रता मे अमोघ आस्था रखने वाला आक्रान्ता कैसे होगा ? चिनगारी जो है, वह कभी भी अग्नि का रूप ले सकती है।

प्रामाणिकता

दूसरो के प्रति सच्चा रहना प्रामाणिकता तो है किन्तु यह भाषा कभी भी मुझे आकृष्ट नही कर सकी। प्रामाणिकता की जो परिभाषा मुझे आकृष्ट कर सकी, वह है अपने प्रति सच्चा रहना। जो दूसरो का बुरा करने मे अपना बुरा देखता है, वह बुराई से बच सकता है, पर-निरपेक्ष दृष्टि से प्रामाणिक रह सकता है। जिसकी सचाई का आधार व्यवहार की पृष्ठभूमि होता है, वह तब सच्चा रहता है, जब कोई दूसरा देखता है। वह तब सच्चा रहता है, जब प्रकाश मे होता है। अकेले मे और अधेरे मे जो सचाई प्राप्त होती है, वह अपने पर ही आधारित हो सकती है।

लोकतत्र का सौन्दर्य

जो अपने प्रति सच्चा नही होता, वह राष्ट्र के प्रति कभी भी सच्चा नही होता।

कई आदमी राष्ट्र की भलाई के लिए सच्चे होते है और कई अपनी भलाई के लिए। सचाई का बीज हर मनुष्य मे होता है।

वह निमित्त का निमित्त पाकर अकुरित हो उठता है। जो अपनी आतरिक प्रेरणा से अकुरित होता है, वह परिस्थिति से प्रभावित नही होता। बाहरी प्रेरणा से अकुरित होने वाले के लिए यह निश्चित भाषा नही बनाई जा सकती कि वह परिस्थिति से प्रभावित नही होता, पर प्रामाणिकता लोकतत्र का सौन्दर्य तो है ही, फिर चाहे वह किसी भी निमित्त से प्रस्फुटित हो।

स्वतन्त्रता और आत्मानुशासन

कितना मधुर है यह स्वतन्त्रता शब्द । एक तोता पेड़ की टहनी पर बैठकर जिस खुशी से झूमता है, वह उसी खुशी से सोने के पिजड़े मे नही झूमता । पिजड़ा आखिर पिजड़ा ही है, भले ही वह लोहे का हो या सोने का । स्वतन्त्रता की मादकता का एक कण परतन्त्रता के सागर से अधिक मूल्यवान और प्राणदायी होता है । परन्तु आश्चर्य है कि स्वतन्त्रता के पचास वर्षो के बाद भी हिन्दुस्तान पूरी मादकता से नही झूम रहा है । ऐसा लगता है कि वह राजनीति की परतन्त्रता से मुक्त होकर भी मानसिक परतन्त्रता से मुक्त नही है । वाणी की स्वतन्त्रता उसे प्राप्त है, पर वाणी का सयम उसे प्राप्त नही है । लेखन की स्वतन्त्रता उसकी निर्बाध है पर लेखनी का सयम उसे ज्ञात नही है । उसके विचारो की अभिव्यक्ति पर कोई रोक नही लगा सकता पर उसे अपने-आप पर रोक लगाना भी पसन्द नही है । इस स्वतन्त्रता का अर्थ है मानसिक परतन्त्रता का उदय ।

जनतत्र का मूल आधार है स्वतन्त्रता और उसका मूल आधार है व्यक्ति का आत्मानुशासन । जब कोई व्यक्ति अपने-आप पर अपना नियत्रण रख सकता है, तभी वह स्वतन्त्रता की लौ प्रज्वलित कर सकता है । अधिनायकता के युग मे भय और आतक का राज्य होता है, इसलिए व्यक्ति के आत्मानुशासन का विशेष मूल्य नही होता । जनतत्र के युग मे अभय का राज्य होता है, इसलिए उसमे आत्मानुशासन का मूल्य बहुत बढ़ जाता है ।

प्रश्न है आत्मानुशासन का

हिन्दुस्तान दुनिया का सबसे बडा जनतत्र है । उसके नागरिको का आत्मानुशासन कैसा है, इस प्रश्न पर चाहे-अनचाहे दृष्टि जा टिकती है । इसका उत्तर जो मिलता है, वह सन्तोष नही देता । शासनतत्र के प्रमुख लोगो मे सर्वाधिक आत्मानुशासन होना चाहिए पर वह नही है । वे अपने पद का लाभ भी उठाते है । पक्षपात की भी उनमे कमी नही है । अपने कृपापात्रो के लिए वे कुबेर है तो अप्रियजनो के लिए अनुदार भी कम नही है । वे शासनतत्र सभालने है जनता की भलाई के लिए और उनका सघर्ष चलता है सदा कुर्सी की सुरक्षा के लिए । आर्थिक घोटालो के अनेक अरोप उन पर लगाए जाते है और वे प्रमाणित भी हो जाते है ।

आत्मानुशासन की गध कहा है ?

आत्मानुशासन की जन्मभूमि है शिक्षा-सस्थान। वहा राष्ट्र की नयी पौध का निर्माण होता है। उसकी स्थिति भी स्वस्थ नही है। वहां विलास, फैशन और स्वच्छन्दता का इतना प्रबल अस्तित्व है कि आत्मानुशासन की एक अस्फुट रेखा भी नही दिखाई देती।

धर्म का क्षेत्र आत्मानुशासन का मुख्य क्षेत्र है। स्वार्थो का सघर्ष वहा भी अपनी जड़े जमा चुका है। इसलिए उसकी तेजस्विता भी सदिग्ध हो चुकी है। एक व्यक्ति ने मुझे बताया कि एक साधू कहता है, मेरा नाम पहले क्यो नही आया ? उसका पहले क्यो आया ? कोई कहता है, प्रमुख मै हू, उसे प्रमुखता क्यो दी गई ? इस वातावरण मे आत्मानुशासन की गध ही कहा है ?

यह स्थिति का प्रत्यक्ष दर्शन है। इसके द्रष्टा अनेक लोग है। हम द्रष्टा रहकर स्थिति को नही बदल सकते। उसमे अपने सयम की आहुति देकर ही बदल सकते है। आज यह बहुत अपेक्षित है कि सब लोग आत्मानुशासन का सकल्प ले और जन-जन को यह समझाए कि स्वतन्त्रता का अर्थ है, आत्मानुशासन का विकास।

व्यवस्था-परिवर्तन और हृदय-परिवर्तन

मनुष्य के विकास और सशोधन की प्रक्रिया हजारो वर्षो से चली आ रही है। मनुष्य आदिकाल मे जिस रूप मे था वैसा ही रहता तो आज वह जगली मिलता। मनुष्य ने विकास किया है। बाहरी उपकरणो मे विकास किया है और आन्तरिक वृत्तियो मे भी। कठिनाई बाहर भी है और भीतर भी है।

मनुष्य मे कई मौलिक वृत्तिया होती है, जैसे—लड़ाकू वृत्ति, अपना स्वार्थ साधने की वृत्ति आदि। वे पहले भी थी और आज भी है। इन वृत्तियो की विद्यमानता मे मनुष्य क्रूर और अशिष्ट बनता है। मनोवैज्ञानिक इन वृत्तियो को मूल वृत्ति मानते है। प्राचीन आचार्य इन वृत्तियो को राग-द्वेष मानते थे। भाषा का भेद है। भाव की दृष्टि से दोनो एक बिन्दु पर मिल जाते है।

मनुष्य इन वृत्तियो से एकदम छुटकारा पा ले ऐसा सम्भव नही लगता। यदि इनसे छुटकारा पाने का प्रयत्न न किया जाए तो वह और अधिक दारुण बन सकता है इसलिए वृत्तियो के परिमार्जन का प्रयत्न अवश्य होना चाहिए। अणुव्रत आन्दोलन उसी शृखला की एक कड़ी है। मनुष्य धर्म का आचरण हजारो वर्षो से कर रहा है। उसके प्रति उसका आकर्षण भी है, फिर भी व्यक्ति का जीवन जैसा बनना चाहिए वैसा नही बना है। इससे लगता है कि कही न कही पर कोई कमी है।

वर्तमान का धर्म

धर्म मे जितनी परलोक की प्रेरणा मान रखी है उतनी वर्तमान की नही। परलोक को सुधारने की दृष्टि से धर्म को करने वाले बहुत है पर वर्तमान का सुधारने की दृष्टि से धर्म को करने वाले कम है। इसीलिए धर्म के द्वारा जितना नैतिक विकास होना चाहिए उतना नही हुआ।

जिसके जीवन मे धर्म है परन्तु नैतिकता नही है तो इसका अर्थ हुआ— उसके जीवन मे धर्म नही है। यह कैसे सम्भव हो सकता है कि दीपक है, वह जलता भी है, पर प्रकाश नही है। जलन-क्रिया और प्रकाश मे विरोधाभास नही है। प्रकाश और अन्धकार मे विरोध है। धर्म और क्रूरता एक साथ नही रह सकते। उस धर्म के साथ क्रूरता टिक सकती है। जो धर्म क्रूरता को पोषण देने वाला होता है।

विसर्जन है ममत्व-त्याग

एक व्यक्ति ने परिग्रह का अल्पीकरण करना चाहा क्योकि परिग्रह मोक्ष का बाधक है। परिग्रह की सीमा निर्धारित की—'एक लाख रुपये से ज्यादा नही रखूगा।' व्यापार मे जब धन अधिक बढ़ गया तो उसने उस अतिरिक्त धन को अपने लड़को के नाम से कर दिया। लेकिन उसका विसर्जन नही किया। जब तक विसर्जन नही किया जाता, उससे ममत्व नही हटता। विसर्जन के बिना सग्रह के प्रति आकर्षण भी कम नही होता। जब तक धन कमाने के प्रति आकर्षण बना रहता है तब तक ममत्व की भावना घटती नही, बढ़ती है। जहा ममत्व है वहा शोषण आदि वृत्तिया पनपती है। शोषण ममत्व-त्याग का सबल शस्त्र है।

यम और नियम

हमारे आचार्यो ने यम और नियम का भेद दिखाते हुए कहा—अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाच यम है। ये प्रतिदिन के लिए अनिवार्य होने चाहिए। एक व्यक्ति अपरिग्रही बनता है, फिर वही दो घटे के बाद परिग्रही बने, यह नही हो सकता। एक व्यक्ति परिग्रह को छोड़ साधु बनता है तो क्या वह दो घंटे के बाद लाख रुपया पास मे रख लेगा ? नही। यम जीवन मे अनिवार्य रूप से आते है। वे यावज्जीवन के लिए होते है। उनमे काल की सीमा नही होती।

प्रधान है नियम

नियम कादाचित्क होते है, आवश्यकता के अनुसार किये जाते है। एक व्यक्ति आज उपवास करता है। कल वह नही भी करता। पूजा करनेवाला एक घटे तक पूजा करता है परन्तु ऐसा नही देखा जाता कि चौबीस घटे पूजा ही करता रहे। नियम देश, काल और मर्यादा-सापेक्ष होते है। परन्तु आज विपरीत क्रम हो गया है। नियम प्रधान बन गया है और यम की आवश्यकता भी नही रह गई है। नियम के आधार पर चलनेवाला जिस कुल मे जन्मता है वैसा ही अपना आचरण बना लेता है। मैने देखा, दो-चार वर्ष के बच्चे के सिर पर अमुक प्रकार का टीका लगा हुआ था। बच्चा क्या जानता है ! माता-पिता ने अपने धर्म का प्रतीक उसको बना दिया। आज धर्म आनुवशिक रूप मे पाला जाता है। धर्म मे जो परिवर्तन की क्षमता थी वह आज नही है। भगवान् महावीर, बुद्ध और कृष्ण ने क्रान्ति की थी। आज वही परमपरा मे परिवर्तित हो गई है।

हृदय-परिवर्तन और व्यवस्था

गुरुदेव ने कहा था—'साधारण जनता के लिए हृदय-परिवर्तन के साथ व्यवस्था-परिवर्तन भी आवश्यक होता है।' महायान का प्रवेश होते ही सामूहिकता प्रबल हो गई। ऐतिहासिक दृष्टि से महायान सबसे पहला था जिसने सामूहिकता पर बल दिया। उसके

बाद महाभारत मे उसका प्रवेश हुआ । आज बाह्य उपकरणो मे सामूहिकता ने विकास किया है । एक समय ऊँट व्यक्तिगत वाहन था । दो-तीन आदमी उस पर बैठ सकते थे । आज वाहन का विकास हुआ है । एक बस मे पचासों व्यक्ति एक साथ बैठ सकते है । पहले एक आदमी बोलता था, कुछेक व्यक्ति सुन सकते थे । आज बोलने के साधनो मे विकास हुआ है । एक व्यक्ति बोलता है, लाखों व्यक्ति सुन सकते है । यह बाह्य उपकरणो मे सामूहिकता का विकास है ।

निमित्त का प्रभाव

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और निमित्त की अनुकूलता न हो तो होनेवाला कार्य रुक जाता है । इनकी अनुकूलता पर कार्य अभिव्यक्त हो जाता है । पावर हाउस से आने वाला विद्युत् प्रवाह बल्ब का निमित्त मिलने से प्रकाश देता है । बल्ब न हो तो वह प्रकाशित नही होता । बल्ब निमित्त है परन्तु उसकी भी अपनी उपयोगिता है । चैतन्य की अभिव्यक्ति मे भी शरीर का निमित्त सहयोगी बनता है । व्रतो के लिए भी यही नियम है ।

कोई व्यक्ति नैतिक या व्रती बनता है तो उसकी अभिव्यक्ति उसके आचरण से होती है । नैतिकता आचरण से फलित होती है । वैसे मूर्खता भी आचरण से फलित होती है ।

एक मूर्ख अपने गाव मे रहता था । लोग उसे मूर्ख कहकर बतलाते थे । मूर्ख नाम उसे प्रिय नही था इसीलिए वह अपना नाम-परिवर्तन करने के लिए अपना गाव छोड़कर दूसरे गांव चला गया । शहर मे पहुंचा । प्यास लगी । सड़क पर नल था । टोटी खोल पानी पीने लगा । जब तृप्त हो गया तो सिर हिलाया परन्तु टोंटी से अभी भी पानी आ रहा था । पास खड़ी औरतों ने उसके कार्य को देखा । वे कहने लगी—'कितना मूर्ख है, नल बन्द नही करता ।' उसने सुन लिया । पास जाकर पूछा—'मेरा नाम तुम लोगो ने कैसे जाना ? मै तो यहां कभी आया ही नही ।'

बहनो ने हॅसते हुए उत्तर दिया—'तुम्हारी क्रिया से जाना ।'

व्यक्ति का आचरण स्वय प्रकट कर देता है कि वह नैतिक है, या अनैतिक है । व्यक्ति को प्रामाणिक बनाने मे व्यवस्था का बहुत बड़ा हाथ रहता है । अणुव्रत के मच से इस विषय पर चिन्तन हुआ भी है ।

आवश्यक है परिस्थिति का निर्माण

समाज के लोगो को प्रामाणिक देखना चहते है तो उन्हे तदनुकूल व्यवस्था भी देनी होगी । विवाह आदि मे खर्च पर नियन्त्रण नही किया गया तो संग्रह की भावना कैसे मिटेगी ?

सग्रह का द्वार जब तक खुला रहेगा तब तक—'ब्लैक मत करो', 'रिश्वत मत लो', इसका पालन कैसे होगा ? इस चिन्तन के बाद अणुव्रत के अन्तर्गत 'नया मोड़' चलाया गया। नये मोड़ से लोगो का दृष्टिकोण बदला है। खर्च की कमी हुई है। साधन-शुद्धि पर भी विश्वास जमा है। कुछ लोगो ने दहेज लेना बन्द कर दिया है, उसका प्रदर्शन भी बन्द कर दिया है। विवाह भी एक दिन मे होने लग गया है। जब तक सामाजिक मानदड मे परिवर्तन नही किया जाएगा, नैतिकता को विकसित होने मे कठिनाई होगी। इसलिए नैतिकता को प्रतिफलित करने के लिए वैसी परिस्थिति का निर्माण करना भी आवश्यक है।

प्रश्न सामाजिक चर्चा का

एक प्रश्न आता है— सत सामाजिक चर्चा मे भाग क्यो लेते है ?

धर्म और अधर्म की चर्चा का क्षेत्र समाज ही है। समाज को छोड़कर इसकी चर्चा आकाश मे नही की जाती। धर्म की चर्चा भी समाज मे होती है और अधर्म की चर्चा भी समाज मे होती है। पुराने आचार्यो ने तात्कालिक सामाजिक बीमारियो पर गहरा प्रहार किया था। भगवान् महावीर ने केवल छुआछूत पर ही प्रहार नही किया अपितु हरिजनो को दीक्षित कर उन्हे बराबर स्थान दिया। एक नही ऐसे अनेक स्थल है, जहा प्राचीन आचार्यो ने समय-समय पर सामाजिक बीमारियो की चिकित्सा की है।

परिस्थिति परिणाम

कल्पातीत देवलोक मे न कोई स्वामी है और न कोई सेवक है। न कोई शासक है और न कोई शासित है। सब अहमिंद्र है। न कोई बड़ा है, न कोई छोटा है। ऐसा क्यो हुआ ? इसके पीछे भी परिस्थिति का योग है। वे उपशात है, अल्पक्रोध, अल्पमान, अल्पमाया और अल्पकषाय है।

तमिलनाडु मे हमने देखा कही लू नही है जबकि उत्तरप्रदेश मे लू से कई आदमी मर जाते है।

क्षेत्र, काल और परिस्थिति के प्रभाव से कोई भी नही बच सकता। हमारा शरीर भी इसका अपवाद नही रह सकता। ऐसे व्यक्ति विरल ही है, जो अग्नि मे बैठकर भी न जले।

अणुव्रत ने भी परिस्थितियो की शक्ति पर विचार किया है और उनको परिवर्तित करने के साधनो पर भी सोचा है। सामाजिक जीवन मे व्रतो की अनिवार्यता है। अनुशासन के बिना समाज चल नही सकता। सड़क पर दस व्यक्ति चल सकते है पर बैठ नही सकते, क्योकि उन्हे मर्यादा का बोध है। मर्यादा और अनुशासन का विकास व्रत के रूप मे हुआ

है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता जिस दिन पनपी उसी दिन व्रत का विकास हुआ है। व्रतो की भावना को अणुव्रत आन्दोलन ने प्रस्तुत कर एक नया आयाम खोला है। धर्म की रूढ़ भावना बन गई थी उसे नैतिकता की नई दिशा दी है। हर व्यक्ति गहराई से सोचे और अणुव्रत की पृष्ठभूमि मे रहे दर्शन को समझे। व्रतो से प्रकाश की रश्मिया अवश्य मिलेगी।

कार्यकर्त्ता की पहचान

इस दुनिया मे कोई व्यक्ति ऐसा नही है, जो कार्य न करता हो। प्रत्येक व्यक्ति को कार्य करना होता है। जीवन चलाने के लिए कार्य करना जरूरी है। हम किसी व्यक्ति के सदर्भ मे यह नही मान सकते कि वह कार्यकर्त्ता नही है।

अपनेपन की सीमा से परे

आज कार्यकर्त्ता शब्द एक विशेष अर्थ मे प्रयुक्त है। शब्द के अर्थ दो प्रकार के होते है— प्रवृत्तिलभ्य अर्थ और व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की दृष्टि से देखे तो सब कार्यकर्त्ता है। प्रवृत्तिलभ्य अर्थ की दृष्टि से देखे तो जो दूसरो के लिए करता है, वह कार्यकर्त्ता है। अपने लिए सब करते है, किन्तु सब कार्यकर्त्ता नही कहलाते। जो अपना स्वार्थ छोड़कर दूसरो के लिए खपता है, अपना पसीना बहाता है, वह कार्यकर्त्ता कहलाता है।

बहुत कठिन है अपने स्वार्थ की सीमा को अतिक्रात करना। व्यक्ति अपने स्वार्थ की सीमा मे रहता है। वह अपने लिए करता है, अपने घर और अपने परिवार के लिए करता है। जहा अपनापन जुड़ा हुआ है, वहा काम करता है। जब व्यक्ति अपनेपन की सीमा से परे 'पर' के लिए कार्य करता है, तब कार्यकर्त्ता शब्द जन्म लेता है।

स्वार्थ का अतिक्रमण

कार्यकर्त्ता की दूसरी पहचान है—स्वार्थ से ऊपर उठना। कार्यकर्त्ता वह होता है, जो स्वार्थ से ऊपर उठना जानता है। स्वार्थ-त्याग बहुत कठिन साधना है। अनेक लोग बड़े-बड़े पदो पर पहुच जाते है, सत्ता, उद्योग, शासन और प्रशासन के उच्च शिखर को छू लेते है, किन्तु वे 'स्व' की सीमा को नही तोड़ पाते। बड़ा होना, बड़े पद पर चले जाना एक बात है और स्वार्थ की सीमा को अतिक्रात करना बिलकुल दूसरी बात है। प्रशिक्षण के बिना, परमार्थ की चेतना को जगाए बिना स्वार्थ की सीमा का बोध जागृत नही हो सकता।

मानव मस्तिष्क मे असीम क्षमताए है और उन क्षमताओ के प्रकोष्ठ मस्तिष्क मे बने हुए है। इस छोटे से मस्तिष्क मे इतने प्रकोष्ठ है, जिनकी सामान्य आदमी कल्पना नही कर सकता। लाखो-करोड़ो प्रकोष्ठ मानव के मस्तिष्क मे विद्यमान है। जिस मकान

मे पाच-दस कमरे होते है, उसे बड़ा मकान माना जाता है। जिस मकान मे चालीस से अधिक कमरे होते है प्राचीन भाषा मे सप्त भौम मकान है, उसे विशाल प्रासाद माना जाता है किन्तु हमारे मस्तिष्क मे जितने प्रकोष्ठ है, उतने किसी मकान मे नही है। बहुत बड़े कॉलेज, सचिवालय और विश्वविद्यालय मे भी उतने कमरे नही है, जितने प्रकोष्ठ मस्तिष्क मे है।

सोए कोष्ठ जगाएं

लुधियाणा मे सी० एम० सी० हॉस्पिटल को देखा। उसमें चार हजार कमरे है किन्तु मस्तिष्क के प्रकोष्ठो की तुलना मे वह बहुत छोटा पड़ जाता है। हमारे मस्तिष्क मे चार हजार नही, चार लाख और चार करोड़ नही, चार अरब से ज्यादा कमरे बने हुए है। प्रत्येक प्रकोष्ठ प्रत्येक प्रवृत्ति के लिए जिम्मेवाद है। एक प्रकोष्ठ एक काम करता है और दूसरा कोष्ठ दूसरा काम करता है। ऐसा लगता है— मस्तिष्क मे जो स्वार्थ का कोष्ठ बन गया है, खुला हुआ है, चौबीस घटे खुला रहता है किन्तु परार्थ का कोष्ठ, उससे भी आगे परमार्थ का कोष्ठ है, वह बन्द पड़ा हुआ है। प्रशिक्षण का अर्थ है— मस्तिष्क के उन कोष्ठो और दरवाजो को खोल देना, जो बन्द पड़े है। प्रशिक्षण से सोए कोष्ठो को जगाया जा सकता है।

प्रशिक्षण की विधि

प्रशिक्षण की विधि नई नही है। प्राचीन युग मे इतना सुन्दर प्रशिक्षण होता था, जिसकी सामान्यत कल्पना नही की जा सकती। एक शक्ति है लघिमा। उसका प्रशिक्षण चलता था। जो व्यक्ति इसका प्रशिक्षण ले लेता, वह बहुत विचित्र करतब दिखाने म सक्षम बन जाता। कोशा वेश्या की घटना प्रसिद्ध है। स्थूलभद्र बारह वर्ष कोशा के राग रगो मे डूबे रहे और एक दिन मुनि बन गए। सेनापति सुकेतु ने कोशा के सामने अपनी प्रतिभा का बखान किया। कोशा बोली— तुम मेरा चमत्कार देखो। सरसो का ढेर और उस पर सूई रख दी रख कोशा आगन पर नृत्य करते करते सरसो के ढेर पर नृत्य करने लगी। सरसो का एक भी दाना इधर-उधर नही हुआ। सूई जहा की तहा पड़ी रही। क्या यह सभव है ? मनुष्य सरसो के ढेर पर जाए तो वह ऐसे ही बिखर जाएगा। तब व्यक्ति सरसो के ढेर पर नाचता रहे, न दाना इधर हो सकता है, न सूई प्रकपित हो सकती है। व्यक्ति कितना प्रशिक्षण लेता है, तब यह स्थिति बनती है। सामान्य आदमी इस स्थिति की कल्पना भी नही कर सकता, इसे सच भी नही मान सकता। अनेक लोक इस भाषा मे सोच सकते है—यह कोरी गप्प है। ऐसा कभी हो नही सकता।

सभव है प्रशिक्षण से

यह कोशा की घटना हजारो वर्ष पहले की है, कितु जो लघिमा का प्रशिक्षण लेता है, वह आज भी ऐसे चमत्कार का प्रदर्शन कर सकता है। महाराजा गगासिह जी की

गोल्डन जुबली मनाई जा रही थी । महाराजा के निवेदन पर आचार्यश्री ने उस वर्ष का चातुर्मास बीकानेर किया । उस अवसर पर एक व्यक्ति ने ऐसा ही प्रदर्शन किया । मंच के पास सरसो का ढेर था । वह मंच पर नाचते नाचते सरसो के ढेर पर नाचने लगा । एक भी दाना इधर-उधर नही हुआ ।

यदि लघिमा सिद्ध हो जाए तो ऐसा क्यों नही हो सकता ? जैन आगमो मे जघाचारण, विद्याचारण आदि अनेक सिद्धियो का उल्लेख है । गौतम स्वामी के मन मे इच्छा जागी— अष्टापद पर जाना है । सूरज की किरणो को पकड़ा और सीधे हिमालय की चोटी पर चढ़ गए । पैरो से चढ़ते तो न जाने कितने दिन लगते । आजकल एवरेस्ट की चोटी पर चढ़ने वाले यात्रियों को कितने दिन लगते है ? गौतम स्वामी कुछ दिनो में ही नही, कुछ मिनिटो ही हिमालय के शिखर पर पहुच गए ।

यह सभव होता है प्रशिक्षण के द्वारा । प्रशिक्षण की अनेक विधिया, प्रविधिया है । प्रशिक्षण वह है, जो मस्तिष्कीय शक्ति को जगाने का, मस्तिकीय कोष्ठो को खोलने का माध्यम बने । जब तक कार्यकर्त्ता मस्तिष्क के प्रकोष्ठो को जागृत करने की विधियो प्रविधियो को नही जानता, उनका अभ्यास नही करता, तब तक बड़ा कार्यकर्त्ता नही बन सकता ।

परार्थ की चेतना जागे

महाराष्ट्र के एक कार्यकर्त्ता है शातिलाल मूथा । व्यवसायी है पर व्यवसाय से ज्यादा दिमाग कार्यकर्त्ता का है । जैन सघटना का अध्यक्ष है । महाराष्ट्र मे भूकप आया । हजारो बच्चे अनाथ हो गए । ऐसे चौदह सौ बच्चों को पढ़ाने -लिखाने और सस्कारित करने की जम्मेवारी उसने ओढ ली । जैन सघटना के इस कार्य की मुख्यमंत्री ने प्रशसा करते हुए जमीन देने की पेशकश की । समस्या यह थी— इतने बच्चो को कहा रखा जाए । पूना मे शातिलालजी अपना मकान बना रहे थे । उसमे एक बार सारे बच्चो के रहने का प्रबध कर दिया । परार्थ की चेतना के विकास के बिना व्यक्ति ऐसा नही कर सकता ।

कार्यकर्त्ता के प्रशिक्षण का पहला बिन्दु है— स्वार्थ का जो कोष्ठ खुला है, उसे बन्द कर दे । परार्थ और परमार्थ का जो कोष्ठ बन्द पड़ा है, उसे खोल दे ।

आज स्वार्थ का दरवाजा इतना चौड़ा हो गया है कि उसे पूरा बन्द करना बहुत मुश्किल है, किन्तु यदि वह दरवाजा थोड़ा संकड़ा हो जाए, परार्थ का दरवाजा कुछ उद्घाटित हो जाए तो कार्यकर्त्ता यथार्थ मे कार्यकर्त्ता बन जाए । कार्यकर्त्ता के प्रशिक्षण का उद्देश्य है— परार्थ और परमार्थ की चेतना को जगाना

संवेदनशीलता का विकास

प्रशिक्षण का दूसरा बिन्दु है— सवेदनशीलता का विकास । समाज का अर्थ है—

संवेदनशीलता । यह एक ऐसा धागा है जो समाज को समाज बनाए रखता है, इकाई में बांधे रखता है । दूसरे की कठिनाई को अपना मानना, समस्या और उलझन को अपना मानना । यह कठिनाई पड़ोसी की नहीं, मेरी है, यह समस्या मेरे साधर्मिक की नही, मेरी है और मुझे इसका समाधान करना है । यह संवेदनशीलता जाग जाए, समाज के साथ तादात्म्य बन जाए, पृथकत्व या अलगाव न रहे ।

यदि व्यक्ति यह सोचे— समाज से मुझे क्या लेना देना है ? समाज का काम समाज समाज जाने तो वास्तव मे समाज बनता ही नही है । समाज के साथ तादात्म्य की अनुभूति से सवेदनशीलता प्रखर बनती है । बहुत लोग प्रार्थना करते है, वन्दना करते है, किन्तु इष्ट के साथ तादात्म्य कितने लोग स्थापित कर पाते है । कुछ लोग ही ऐसे होते है, जो इष्ट के साथ तदात्म हो पाते है ।

एक पादरी महाप्रभु ईसा का अनन्य भक्त था । कहा जाता है— महाप्रभु ईसा के सूली का दिन आता, वह इतना लीन और तदात्म हो जाता कि उसके हाथ से भी खून बहने लग जाता । ऐसा लगता— जैसे कोई सूई चुभ रही है और खून बह रहा है ।

समाज के साथ इतना तादात्म्य स्थापित कर लेना, दूसरे की कठिनाई को अपना मान लेना, यह है सवेदनशीलता । हमारे मस्तिष्क मे दो कोष्ठ है— एक कोष्ठ क्रूरता का है और दूसरा कोष्ठ है करुणा का, संवेदनशीलता का । पता नही, क्या बात है, प्रकृति का क्या रहस्य है, क्रूरता का कोष्ठ बहुत जगा हुआ है और करुणा तथा सवेदनशीलता का कोष्ठक जगता है । तब व्यक्ति दूसरो की समस्या को समझ लेता है । स्थिति बदल जाती है ।

संवेदनशीलता गांधी की

महात्मा गांधी आसाधारण व्यक्ति थे किन्तु उनका बाह्य परिवेश बहुत साधारण था । धोती भी पूरी नही पहनते थे, केवल घुटनो तक पहनते थे । उनके मन मे यह बात जग गई— हिन्दुस्तान की आधी आबादी ऐसी है, जिसे पहनने को पूरा कपड़ा नही मिलता । मुझे इतना कपड़ा क्यो पहनना चाहिए । कहा जाता है— गाधी जी एक बार दक्षिण भारत मे गए । एक छोटे बच्चे ने गाधी जी से कहा— बापू ! आपके पास कपड़े ही नही है । आप मुझे आज्ञा दें, मै अपनी मां से आपके लिए चोला, धोती— पूरा वेश बनवा दूं ।

गाधी जी बोले— बच्चे ! तुम्हारी भावना अच्छी है, पर मै तुम्हारा वेश नही ले सकता ।

क्यो ?' — बच्चे ने सविनय जिज्ञासा की ।

'क्योकि तुम्हारी मा मेरे लिए वेश तैयार नही कर सकती ।'

'बापू ! आप आज्ञा दें, आपके लिए मेरी मा जरूर तैयार कर देगी ।'

'वह नही कर सकती ।'

'क्यो नही कर सकती ?'

'मेरे लिए वेश तैयार करे तो तीस करोड़ वेश तैयार करने होंगे। यदि तुम्हारी मां तीस करोड़ व्यक्तियों के लिए वेश तैयार कर दे तो मै तुम्हारा वेश पहन लूगा। अन्यथा मै अकेला तुम्हारा वेश नही पहन सकता।'

जिस व्यक्ति के मन में इतनी संवेदनशीलता जाग जाए, समाज के साथ एकात्मकता और तादात्म्यता स्थापित हो जाए, वही वास्तव मे कार्यकर्त्ता कहलाने का अधिकार पा सकता है।

सहनशीलता का विकास

प्रशिक्षण का तीसरा बिन्दु है— सहनशीलता का विकास। कार्य-कौशल का बहुत बड़ा अग है— सहनशीलता। जो व्यक्ति सार्वजनिक क्षेत्र मे काम करेगा, उसे बहुत सुनना पड़ेगा। एक गृहस्थ को ही नही, साधु को भी सुनना और सहना होता है। साधु भी तो कार्यकर्त्ता ही है। जिसने अपना स्वार्थ छोड़ा है, दूसरो के कल्याण मे रत है, वह साधु भी कार्यकर्त्ता है।

तीन निर्देश

महावीर ने मुनि को स्वार्थ की बात नही सिखाई। उन्होने यह नही कहा— तुम केवल अपना कल्याण करो। मुनि के लिए महावीर ने कहा— तिन्नाण तारयाण— तुम स्वयं तरो पर अकेले नही, दूसरो को भी तारो। स्वय बुद्ध बनो पर अकेले नही, दूसरो को भी बोधि दो। स्वय मुक्त बनो, समस्याओ से मुक्ति पाओ पर अकेले नही, दूसरो को भी समस्याआ से मुक्त करो।

महावीर के ये तीन निर्देश बहुत महत्वपूर्ण है—

स्वय तरो, दूसरो को तारो

स्वय बुद्ध बनो, दूसरो को बोधि दो।

स्वय समस्या से मुक्ति पाओ, दूसरो को समस्याओ से मुक्ति का मार्ग दो।

संक्रमणशील है जगत्

दुनिया मे कोई भी व्यक्ति अकेला नही रह सकता। हम यह मान लेते है— जो हिमालय की गुफा मे बैठा है, वह अकेला है, पर वह भी वास्तव मे अकेला नही है। क्या वह ऑक्सीजन नही ले रहा है ? क्या वह प्राणवायु नही ले रहा है ? क्या महावीर के विचार उसके मस्तिष्क से नही करा रहे है ? हमारा जगत् इतना सक्रमणशील है कि कोई अकेला रह नही सकता। मनोवर्गणा, वचन वर्गणा और काय वर्गणा के पुदगल सारे जगत् मे फैलते है, सबको प्रभावित करते है। प्रशिक्षण का सूत्र यह है— हम सहन करना सीखे। आचार्य भिक्षु ने कितना सहा। उनका सारा जीवन सहिष्णुता का जीवन्त निदर्शन है। वचनो के प्रहार, गालिया, अपमान मुक्के की चोट, सब कुछ सहा। बहुत शात भाव से

सहा, किसी पर भी आक्रोश नही किया। हम आचार्य भिक्षु की बहुत विशेषताए जानते है, किन्तु उनकी सबसे बड़ी विशेषता है— सहिष्णुता कहा गया— खमा सूरा अरहता— तीर्थकर क्षमाशूर होते है।

भगवान महावीर ने कितना सहन किया! आचार्य भिक्षु ने क्या-क्या नही सहा।

विरोध श्रद्धा में बदल गया

गुरुदेव दक्षिण की यात्रा पर थे। मार्ग मे एक टीचर्सट्रेनिग कॉलेज के अध्यापक हाथ मे काले झडे लिए खड़े थे। सतो ने पूछा— यहा क्या कर रहे है? अध्यापक बोले— आचार्य तुलसी आ रहे है, हिन्दी का प्रचार कर रहे है। हम उन्हे काले झण्डे दिखा रहे है।

सतो ने कहा— कोई आपत्ति नही है। क्या फर्क पड़ता है? हम काला पीला— सब देखते है

'क्या हम काला झड़ा दिखा सकते है?

'हमे कोई कठिनाई नही है।'

अध्यापक यह सुन कर अवाक् रह गए। सत आगे बढ़ गए। कुछ ही देर मे आचार्यश्री पधार गए। पता नही क्या हुआ काले झड़े गायब हो गए। अध्यापक ने प्रार्थना की— आप हमारे कॉलेज मे प्रवचन करे। आचार्यश्री ने कहा— मै तमिल भाषा नही जानता।

'आप अपनी भाषा मे बोले।' विरोध का स्वर श्रद्धा मे परिणत हो गया।

सहिष्णुता का कवच बनाएं

व्यक्ति सहन करना सीख जाए तो प्रतिकूल स्थितिया अनुकूल बनती चली जाती है। थोड़ी-सी समस्या आए, कठिनाई आए और व्यक्ति इस भाषा मे बोल जाए— मै अब काम नही करूगा। मै ऐसी स्थिति मे काम नही कर सकता। यह कार्यकर्त्ता की पहचान नही बननी चाहिए। कार्यकर्त्ता को सहिष्णु बनना चाहिए। वज्रपजर बनना चाहिए।

मत्र साधक मत्र साधना से पहले पजर की साधना करता है। जो वज्र पजर या कवच की साधना मे सफल नही हो सकता। मंत्र साधना मे बहुत समस्याए आती है, विघ्न बाधाए आती है। यदि व्यक्ति वज्र पजर का निर्माण कर लेता है, तो फिर भूत आए, पिशाच या राक्षस आए, कोई भी उसे भेद कर प्रवेश नही कर सकता।

कार्यकर्त्ता के लिए सहिष्णुता का वज्रपजर बनाना जरूरी है। जब तक कार्यकर्त्ता सहनशील नही होगा, वह धैर्य और शाति का परिचय नही दे पाएगा। अनेक व्यक्ति थोड़ी-सी विपरीत स्थिति आते ही अधीर और विचलित हो जाते है। व्यक्ति सोचता है— अमुक व्यक्ति ने मेरा अपमान कर दिया, मै अब सभा मे नही जाऊगा, सगोष्ठी मे भाग नही लूगा। हम अतीत को देखे। अपमान किसका नही हुआ?

जीतें मधुर वाणी से

श्रीकृष्ण के समय की घटना है। गणतत्र के सहभागी भोज आदि राजा कृष्ण का अपमान कर देते। एक बार कृष्ण घबरा गए। सोचा— क्या करे ? चिन्तन की मुद्रा मे उदास बैठे थे। नारद जी आए। पूछा— उदास क्यो हो ? कृष्ण ने कहा— सोचता हू— इस राजतत्र के सारे झझटो को छोड़ दूं। 'कुकर, भोज आदि परेशान कर देते है। मै काम कैसे करू ?'

नारदजी बोले — कृष्ण ! तुम ठीक नही सोच रहे हो। शत्रु होता है तो कोई शस्त्र चलाकर उसे शान्त कर देते, किन्तु यहा घरेलू मामला है, जो विरोध कर रहे है, वे अपने है। उन्हे शस्त्र से नही, मधुर वाणी से जीतो।

कार्यकर्त्ता के जीवन मे अनेक उतार चढ़ांव आते है, तिरस्कार और पुरस्कार के क्षण आते है। इन सब को सह लेना ही कार्यकर्त्ता की कसौटी है। कार्यकर्त्ता को यह सोचना चाहिए— यह घरेलू मामला है, समाज का प्रश्न है, यहां असहिष्णुता काम नही देगी। मधुर और मृदुभाषा से ही इन स्थितियो से बचा जा सकता है। सहिष्णुता का प्रशिक्षण व्यक्ति के चिन्तन को परिष्कार देता है, उसे मृदु और मधुर बनने की अभिप्रेरणा देता है।

प्रशिक्षण का मूल्य

कार्यकर्त्ता के प्रशिक्षण के लिए इन तीन बिन्दुओ पर ध्यान केन्द्रित करना अपेक्षित है—

१ परार्थ की चेतना का विकास।

२ सवेदनशीलता की चेतना का विकास।

३. सहिष्णुता की चेतना का विकास।

कार्यकर्त्ता प्रशिक्षण शिविर में इनके प्रकोष्ठो को जागृत करने की विधि समझ पाएं, तो कार्यकर्त्ता को यह अनुभव होगा— कुछ नया घटित हो रहा है , संवेदनशीलता, करुणा और सहिष्णुता के विकास का पथ प्राप्त हो रहा है। उपलब्धि का यह अवबोध और आत्मतोष ही कार्यकर्त्ता को सही अर्थ मे कार्यकर्त्ता के रूप मे प्रतिष्ठित कर सकता है। कार्यकर्त्ता प्रशिक्षण क्यो ? इस प्रश्न का उत्तर प्रशिक्षण की इस साधना मे छिपा है। हम इसका मूल्याकन करें , प्रशिक्षण का मूल्य स्वत स्पष्ट होता चला जाएगा।

व्यक्तिवाद और समाजवाद

एक बार गुरुदेव श्री तुलसी ने कहा था ''जहा मनुष्य को व्यक्तिवादी होना चाहिए वहा वह समाजवादी है और हा उसे समाजवादी होना चाहिए वहा वह व्यक्तिवादी है। धर्म के क्षेत्र मे मनुष्य को व्यक्तिवादी होना चाहिए, आचरण के महायज्ञ मे सबसे पहले अपनी आहुति देनी चाहिए। वहा आदमी कहता है— 'जब सारी दुनिया नही सुधरती है तो मै अकेला कैसे सुधर सकता हू ! सब सुधरेगे तो मै भी सुधर जाऊगा।'

धन का सग्रह करते समय वह नही सोचता कि बहुत सारी जनता को भरपेट रोटी नही मिलती तब मै इतना सग्रह क्यो करू ? वह कहता है— 'अपने-अपने भाग्य की बात है। मै किस-किस की चिन्ता करू कि उन्हे रोटी मिली या नही मिली ? मुझे धन मिलता है तब मै क्यो नही सग्रह करू ?'

केवल आसू ही शेष रहे

सामाजिक जीवन मे व्यक्तवादी मनोवृति के कारण मनुष्य कितना क्रूर हो जाता है, उसे हम एक कहानी द्वारा समझ सकेगे।

एक सेठ धन कमाने गया। लम्बी अवधि तक घर नही आया। पत्र पर पत्र आते रहे। सेठ उनकी उपेक्षा करता रहा। बारह वर्षो के बाद वह लौट रहा था। बीच मे एक धर्मशाला मे विश्राम किया। रात हुई, सेठ लेट गया। इतने मे रोने की ध्वनि आयी। इधर रात बढ़ रही थी, उधर आवाज बढ़ रही थी। सेठ की नीद भग हो रही थी। सेठ ने अपना आदमी जाच करने के लिए भेजा। उसने सूचना दी— 'पास के कमरे मे एक लड़का ठहरा हुआ है। उसके पेट मे पीड़ा हो रही है। वह चिल्ला रहा है।' सेठ मौन रहा।

थोड़ी देर बाद फिर अपने आदमी से कहा— 'जाओ, उसे समझाओ, वह रोए नही, मुझे नीद नही आ रही है।' आदमी कह आया, पर रोना रुका नही, और तेज हो गया। सेठ फुफकार उठा। उसने अपने परिचारको से कहा— 'उसे धर्मशाला से निकाल दो।' जगल का न्याय कब नही चलता ? परिचारक गए, उस लड़के तथा उसके परिचारक को दिरतग बाहर फेक दिये। रात ढल रही थी। घर के भीतर भी लोग ठिठुर रहे थे। बाहर निकलने की कल्पना भी कठिन थी। सेठ आराम से सो गया। प्रात काल उठा।

'ये कहने से नही मानते, कुछ आ बीतती है तब मानते है'— कहते-कहते सेठ ने सुख की सॉस ली। उसका गर्व सीमा पार कर गया। वह बोला— 'पहले शान्त रहता तो क्यों जाना पड़ता ?' परिचारक बोला— 'शान्त तो वह मरकर ही हुआ है।'

'क्या मर गया ?'

'जी, मर गया।'

'कौन था वह ?'

'आप ही जाने।'

सेठ उठा, बाहर आया। उसने परिचारक से पूछा— गाव, नाम और पिता का नाम।' सुनकर सेठ के प्राण भीतर के भीतर और बाहर के बाहर रह गए। अब वह अपने पुत्र के लाए ऑसू ही बहा सकता था।

स्वयं को अच्छा बनाए

धर्माचरण के लिए मनुष्य को दूसरो की प्रतीक्षा नही करनी चाहिए। सबको अच्छा बनाकर अच्छा बनने की बात वैसी ही है कि 'न तो नौ मन तेल होगा और न राधा नाचेगी'। हर आदमी अपने को अच्छा बनाने की बात सोचे और वह वैसा बने तो दुनिया अपने आप अच्छी बन जाए।

एक दिन एक राजा के पैर मे काटा चुभ गया। बहुत पीड़ा हुई। उसने सोचा— जैसे मेरे पैर मे काटा चुभा, वैसे औरो को भी चुभता होगा। चिन्तन मे डुबकी लगाते-लगाते उसने मन्त्री को बुलाया। वह उपस्थित हुआ। राजा ने कहा, मन्त्री ! मेरे आदेश का पालन करो और समूची पृथ्वी पे चमड़ा मढ़ा दो, जिससे किसी के पैर में कांटा न चुभे।' मन्त्री ने मुसकराते हुए कहा— 'यह असम्भव है, महाराज! सब लोग अपने-अपने पैरों मे चमड़ा पहन ले, पृथ्वी अपने आप चमड़ा मढ़ी हो जाएगी।'

गर्मी के दिन थे। दोपहरी की बेला थी। चिलचिलाती धूप थी। सूर्य अग्नि फेक रहा था। राजा को बाहर जाना पड़ा। उसे बहुत कष्ट हुआ। उसने सोचा। जैसे मुझे धूप मे कष्ट हुआ है, वैसे औरो को भी होता हागा। कितना अच्छा हो मै समूचे आकाश को वस्त्र से आच्छादित कर दू। राजा ने मन्त्री का बुलाकर कहा— 'मेरी आज्ञा का पालन करो और समूचे आकाश मे चदोबा तान दो, जिससे किसी को धूप न लगे।' मन्त्री ने मुस्कराते हुए कहा— 'यह असम्भव है, महाराज! सब लोग अपने अपने सिर पर छाता रख ले, चदोवा अपने आप तन जाएगा।'

चरित्र का विकास वही आदमी कर सकता है, जो—

१ दूसरों के हाथ का खिलौना नही बनता।

२ दूसरो के बटखरो से अपने को नही तोलता।

३ दूसरो के पैमाने से अपने को नही नापता।

अपनी स्वतन्त्र दृष्टि से चरित्र का मूल्य ऑककर उसका विकास चाहता है।

स्वार्थ की मर्यादा

एक दूकानदार ग्राहक से ज्यादा दाम लेना चाहता है। इस चाह के पीछे एक सस्कार और मनोवृत्ति है। उसे हम स्व और पर— इन दो शब्दो द्वारा व्यक्त कर सकते है। दुकानदार भी आदमी है और ग्राहक भी आदमी है। आदमी की दृष्टि से दोनो समान है, पर यह समानता सैद्धान्तिक भूमिका मे होती है। व्यवहार की भूमिका मे वह स्व और पर की रेखा से विभक्त हो जाती है। आदमी अपनी, अपने परिवार, जाति, समाज या देश की सुविधा को कुचल देता है।

आकर्षण है स्व का

व्यक्ति से परिवार बड़ा है, परिवार से जाति, जाति से समाज और समाज से देश बड़ा है।

स्व जितना छोटा है, उसका उतना ही अधिक आकर्षण है। वह जैस-जैसे व्यापक होता वैसे-वैसे आकर्षण कम होता जाता है। व्यक्नि जितनी अपनी चिन्ता करता है उतनी परिवार की नही करता। जितनी परिवार की करता है उतनी जाति की नही करता। जाति से समाज की कम और समाज से देश की कम चिन्ता करता है। मनुष्य के मन मे स्व और पर का सस्कार रूढ़ नही होता तो अनेक बुराइया पनप ही नही पाती। पर यह भेद स्वाभाविक है। दुनिया वहुत बड़ी है सब लोग सबके निकट नही रह सकते। जो जितना सहयोगी होता है, उसके हितो को आदमी उतनी ही प्राथमिकता देता है। इसीलिए दूसरो के हितो की वह चाहे अनचाहे उपेक्षा कर डालता है।

स्व के हितो की प्राथमिकता और दूसरो के हितो को दूसरा स्थान देने की मनोवृत्ति व्यवहार की भूमिका से निष्पन्न होती है, इसलिये हम उसका निर्मूलन नही कर सकते किन्तु उनकी सीमारेखा का निर्धारण कर सकते है।

इस मनोवृत्ति के निरकुश विकास से समाज छिन्न-भिन्न हो जाता है। धर्म के मूल आधार (करुणा) का स्रोत सूख जाता है इसलिये स्वार्थ की सीमा समाजशास्त्रियो तथा धर्माचार्यो दोनो ने निश्चिन की है। समाज मे विरोधी हितो का सदर्भ होता है। जहा उनका सामजस्य नही किया जाता, वहा निम्न प्रकार की प्रवृत्तिया फलित होती है

१ दूसरो के हितो के विघटन से स्वय के हिन का विघटन।

दूसरो के हित के विघटन से स्वय के हित का सधना ।

प्रथम प्रवृत्ति मूर्खतापूर्ण और अवाछनीय है । परन्तु दुनिया मे ऐसे लोगो की भी व नही है ।

विघटन की मनोवृत्ति

पुराने जमाने की बात है । एक लोभी और एक ईर्ष्यालु आदमी देवी के मन्दिर ग'ए । दोनो ने भक्ति के साथ देवी की आराधना की । वह प्रसन्न होकर बोली— तुम जो चाहो वह मॉग लो । पर एक बात है— जो पहले मागेगा उससे दूसरे को दूना मिलेगा ।' दोनो एक-दूसरे से पहले मॉगने का आग्रह करने लगे । लोभी दूने धन का लोभ सवरण कैसे कर सकता था ? ईर्ष्यालु इसे कैसे सहन कर लेता कि वह उससे दूना धन पा जाए ? दोनो अपने-अपने स्वभाव पर अड़े रहे । काफी समय बीत गया पर पहले मागने को कोई तैयार नही हुआ । आखिर ईर्ष्यालु उत्तेजित हो उठा । वह बोला— 'मॉ, यह बड़ा लोभी है । यह कभी भी मागने की पहल नही करेगा । अब मै ही पहल करता हूँ ।' देवी ने कहा 'अच्छी बात है । तुम मागो ।' वह बोला— 'मॉ ! मेरी एक ऑख फोड़ डालो ।' देवी ने कहा— 'तथास्तु ।' ईष्यालु काना हो गया । अब घबराया । वह बोला— 'मॉ, मेरी दोनो ऑख मत फोड़ डालना ।' देवी ने कहा— 'मै अपनी प्रतिज्ञा को कैसे तोड़ सकती हू ?' उसने लोभी की दोनो ऑखे फोड़ डाली । वह अन्धा हो गया ।

लोभी को अधा बनाने के लिए ईष्यालु काना हो गया । यह स्व और पर— दोनो के हितो के विघटन की मनोवृत्ति है । इससे समाज का धरातल नीचा होता है ।

परहित की उपेक्षा . स्वहित का विघटन

सामाजिक हित इतने जुड़े हुए है कि बहुत बार मनुष्य दूसरो के हित की उपेक्षा कर अपने हित का विघटन कर लेता है । यह अज्ञानवश होता है पर बहुत बार होता है ।

दो मित्र थे । एक था माली और दूसरा कुम्हार । उनकी मित्रता का आधार स्वार्थो का समझौता था । एक दिन वे दोनो अपने गाव से शहर मे जा रहे थे । पास मे एक ऊँट था । उस पर माली की सब्जी और कुम्हार के घड़े लदे हुए थे । माली के हाथ मे ऊँट की नकेल थी । वह आगे चल रहा था और कुम्हार पीछे चल रहा था । रास्ते मे चलते-चलते ऊँट पीछे मुड़कर सब्जी खाने लगा । कुम्हार ने देखा पर कुछ किया नही । उसने सोचा— सब्जी खाता है । इसमे मेरा क्या बिगड़ता है । माली ने मुड़कर देखा नही । ऊँट बार-बार खाने लगा । घड़ो के चारो ओर सब्जी बधी हुई थी । सब्जी का भार कम होते ही सतुलन बिगड़ गया । सब घड़े नीचे आकर गिरे और फूट गए ।

माली का हित कुम्हार के हित की रक्षा कर रहा था । कुम्हार ने अपने हित की अपेक्षा करने मे माली के हित की उपेक्षा की थी किन्तु उसने जानबूझकर ऐसा नही किया।

वह परिणाम को समझ ही नही सका ।

दूसरी प्रवृत्ति मूर्खतपूर्ण नही किन्तु अवाछनीय है । इतिहास मे ऐसी घटनाएं घटित हुई है ।

अधीयताम् . अंधीयताम

मौर्यकाल मे पाटलिपुत्र नगर (वर्तमान पटना) बहुत समृद्ध था । उस समय वहॉ चन्द्रगुप्त का पौत्र और बिन्दुगुप्त का पुत्र सम्राट् अशोक राज कर रहा था । उसके एक पुत्र का नाम कुणाल था । सम्राट् उसकी मॉ से बहुत प्यार करता था । कुणाल अभी शिशु था । फिर भी सम्राट् ने उज्जैनी का राज्य दे दिया । कुमार कुणाल को उज्जैनी ले जाया गया । वह वही रहने लगा । एक दन वहॉ से पत्र आया कि राजकुमार अब आठ वर्ष पूरे कर नवे वर्ष मे चल रहे है । सम्राट् ने उसके उत्तर में पत्र लिखा— 'अब कुमार को पढ़ाना शुरू किया जाय । मूल शब्दावली थी— 'कुमार अधीयताम् ।'

कुणाल की सौतेली मॉ सम्राट् के पास बैठी थी । उसने पत्र लिया और उसे पढ़ा । सम्राट का ध्यान चुराकर उसने एक हलन्त नकार और जोड़ दिया । उससे 'कुमार अधीयताम्' का 'कुमार अन्धीयताम्' हो गया । सम्राट के मन मे कोई पाप नही था । उन्होने पत्र को फिर पढ़ा नही, उसे मुहरबन्द कर दूत को सौप दिया । उज्जैनी के अधिकारी वर्ग ने पत्र पढ़ा तो सब अवाक् रह गए । राजकुमार ने कहा— "मौर्यवश मे सम्राट् की आज्ञा अनुल्लघनीय होती है ।" उसने ननु-नच किए बिना लोहे की गरम सलाई मगा उन्हे ऑखो मे ऑज दिया । राजकुमार अधा हो गया ।

सम्राट को जब उसका पता चला , उन्हे बहुत दु.ख हुआ । किन्तु अब उनके पास करने के लिए कुछ भी नही बचा था । एक अधा राजकुमार उज्जैनी का शासन नही चला सकता, इसलिये सम्राट् ने कुणाल को एक छोटे गाव का शासक नियुक्त कर दिया और उज्जैनी का शासन दूसरे राजकुमार को सौप दिया ।

मान्य है वही हित

कुणाल की सौतली मा ने अपना हित साधने के लिए कुणाल के हित का विघटन किया । यह स्वार्थ -साधना का निम्न कोटि का स्तर है, इसलिए वाछनीय नही है । सत्ता और अर्थ के क्षेत्र मे ऐसी अनेक घटनाए घटित हुई है । असख्य लोग उससे प्रभावित हुए है । भावी पीढ़ी को इस अभिशाप से मुक्त करने के लिय अभी जितना चाहिए उतना प्रयत्न नही किया गया । सामाजिक भूमिका मे उसी स्वार्थ को मान्यता दी जा सकती है जो दूसरो के हित का विघटन किए बिना स्वय का हित साधने मे प्रवृत्त हो ।

विचार-प्रवाह

इस विश्व मे जो है, वह प्रवहमान भी है। केवल स्थायी कुछ नही है। प्रत्येक स्थूल पदार्थ से रश्मिया निकलती है और वे समूचे आकाश-मण्डल मे व्याप जाती है। हमारी वाणी जल-तरगवत् भाषात्मक जगत् को प्रकम्पित कर देती है। हमारा मन चिन्तन के पश्चात् अपनी पौद्गलिक आकृतियो का विसर्जन करता है, आकाश उनसे भर जाता है। इस प्रकार हमारा शरीर, वाणी और मन सब प्रवहमान है। इसीलिए समरूपता, समप्रयोग और समचिनतन एक तत्त्वज्ञ के लिए आश्चर्यजनक नही होता। यहा मै समचिन्तन की थोड़ी चर्चा करना चाहता हू।

तेरापंथ

आचार्य पूज्यपाद ने लिखा—'महावीर ने तेरह भेदो (पाच महाव्रतो, पाच समितियो और तीन गुप्तियो) का अपने ढग से निरूपण किया।' आचार्य भिक्षु ने सम्भवत इस विचार को पढ़ा ही नही, फिर भी उन्होने तेरापथ की व्याख्या मे भगवान् के इन्ही तेरह भेदों को आधार माना।

धर्म और राजनीति

आचार्य भिक्षु ने कहा था—'धर्म और राजनीति भिन्न है।' इसी आधार पर आचार्यश्री तुलसी ने बहुत वर्षो पहले लिखा था—'राजनीति से धर्म पृथक् है।' राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन ने कहा था—'हम धर्म और राजनीति को मिलाना नही चाहते। हमारा यही प्रयत्न है कि इन्हे दूर रखा जाए।'

संदर्भ . अहिसा

आचार्य भिक्षु ने लिखा—'भौतिक उपलब्धि अहिसा का परिणाम नही है। उसका परिणाम है आत्म-शुद्धि और मानसिक-शान्ति।' महात्मा भगवानदीन ने इस विचार को इन शब्दो मे व्यक्त किया है—'यह कहकर मै हिसा को बढ़ावा नही दे रहा, मै तो सिर्फ अहिसा की हद बता रहा हू। सत्य, अहिसा, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य—इन सभी धर्मो का मै पुजारी हू। इन सब पर अमल भी करता हू—पर मै यह मानने को तैयार नही कि इन धर्मो की मदद से किसी को स्वराज्य मिल सकता है या कोई आदमी मालदार

हो सकता है, किसी तरह का शारीरिक सुख प्राप्त कर सकता है । इन धर्मो के पालने से तो केवल मानसिक सुख मिल सकता है और जो आत्मा मे विश्वास रखते है, उनकी आत्मा को सुख प्राप्त हो सकता है । इसलिए यह समझना कि स्वराज्य हमारे अहिसा-धर्म का नतीजा है, बहुत बड़ी भूल है ।

मै फिर दोबारा कहता हूं कि मै अहिसा का निरादर नही कर रहा । मै अहिसा का पुजारी हू । मै तो केवल यह कहना चाहता हू कि अहिसा से जिस कार्य की आशा की जाती है, वह गलत है ।

निषेध संकल्प कारण

भारतीय सस्कृति के विकास मे संयम और सकल्प का बहुत बड़ा योग रहा है। उनके साथ निषेध का गहरा सम्बन्ध है । अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन हुआ तब कई चिन्तक व्यक्ति निषेध ही निषेध मे बल नहीं देख पाते थे । कुछ लोग प्रतिज्ञा मात्र के प्रति सहमत नही थे । किन्तु जब राष्ट्रीय एकता सम्मेलन ने सात निषेध स्वीकृत किए तव लगा कि निषेध-सकल्प का स्वर राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिध्वनित हो रहा है ।

अविच्छिन्न विचार

राष्ट्रीय एकता सम्मेलन ने सर्व-सघ के सुझाव पर एक प्रतिज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का अनुरोध किया । उसके अनुसार देश के प्रत्येक वयस्क से निम्न प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर करने को कहा जाएगा—'भारत का नागरिक होने के नाते मै सुसस्कृत समाज के सार्वभौम सिद्धान्तो अर्थात् नागरिको, दलो, सस्थाओ और सगठनो के बीच उत्पन्न विवादो को शान्तिपूर्ण तरीको से निपटाने के सिद्धान्तो मे विश्वास रखता हू तथा एकता और देश की अखडता के सम्मुख आए खतरे को ध्यान मे रखते हुए प्रतिज्ञा करता हू कि मै विवादो को, चाहे वे मेरे पड़ोस मे हो अथवा देश के किसी और हिस्से मे, सुलझाने के लिए हिसा का सहारा नही लूगा ।'

आचार्यश्री तुलसी के धवल-समारोह के प्रथम चरण का आयोजन था । उस अवसर पर तीन प्रतिज्ञाए दिलवाई गई थी । उनमे एक थी—'मै साम्प्रदायिक, भाषायी तथा जातीय आधार पर किसी प्रकार की घृणा नही फैलाऊगा ।'

देश-काल की विच्छिन्नता मे भी विचार किस प्रकार अविच्छिन्न रूप मे प्रवाहित होते है, यह सचमुच आश्चर्य का विषय है ।

चिरसत्यों की अनुस्यूति

सत्य के दो रूप होते है—वस्तु-सत्य और व्यवहार सत्य । व्यवहार सत्य बहुरूपी होता है। वस्तु सत्य का रूप चिर पुराण होता है । वह देशकाल से व्यवच्छिन्न नही होता । जो देश-काल से व्यवच्छिन्न नही होता वही वस्तु-सत्य होता है । उसी के कुछ उदाहरण है—

लघिमा सिद्धि

१, योगिक अनुभूति है कि लघिमा सिद्धि को प्राप्त करने वाला योगी जैसे भूमि पर खड़ा रहता है वैसे ही भाले की नोक पर खड़ा रह सकता है । भूमि और भाले की नोक मे तभी अन्तर होता है, जब भार होता है । योगी प्राण-विजय द्वारा भार-मुक्त हो जाता है । अत उसके लिए भूमि और भाले की नोक मे कोई अन्तर नही होता ।

कोशा वेश्या सरसो की राशि पर नृत्य करती और वह राशि अस्त-व्यस्त नही होती थी । भार-मुक्ति का यह विचित्र प्रयोग था । भूमि के वातावरण मे भार-मुक्ति साधना-लभ्य होती है । अतरिक्ष मे वह सहज ही प्राप्त हो जाती है । रूसी वैज्ञानिक जियोलकोव्स्की के शब्दो मे—''अन्तरिक्ष मे कोई भी वस्तु दबाव नही डालती । यदि मै पृथ्वी पर सूई की नोक पर खड़ा हो जाऊ तो मेरा पैर सूई के अन्दर घुस जाएगा । लेकिन यदि ऐसा अतरिक्ष मे हो तो मेरा पैर सूई पर इस तरह खड़ा रहेगा, मानो मै पृथ्वी पर खड़ा हू ।''

समय की गति

२ भगवान महावीर ने कहा था—'पृथ्वी के असख्य योजन की ऊचाई पर देवो का एक मुहूर्त बीतता है, उतने मे यहा हज़ारो वर्ष बीत जाते है ।' आइन्स्टीन ने इसी सत्य को इन शब्दो मे व्यक्त किया है—'सूरज को भेजी जाने वाली एक घड़ी पृथ्वी की तुलना मे धीमी गति से चलेगी ।' अतरिक्ष-यात्रा के समय भी यही सत्य उद्‌भवित हुआ था । डॉ० बारिसल्कोसोवस्की ने सोवियत अर्थिक पत्रिका मे लिखा था—'अतरिक्ष मे पृथ्वी की अपेक्षा समय बहुत धीमी गति से बढ़ता है ।'

परमाणुवाद का नियम

३ परमाणुवाद के अनुसार एक आकाश-प्रदेश मे एक परमाणु समा सकता है,

वहा अनन्त परमाणुओ का स्कन्ध भी समा सकता है। रसायनशास्त्र के अनुसार एक तोले बुभुक्षित पारद मे सौ तोला स्वर्ण समा सकता है। आकाशवाद की इस रहस्यपूर्ण पद्धति पर एडिगटन ने इन शब्दो मे प्रकाश डाला था—'मनुष्य-शरीर के सारे खोखले स्थानो को निकाल दिया जाए और शेष प्रोटोनों और इलेक्ट्रोनो को एक जगह इकट्ठा कर लिया जाए तो छ फुट और ढाई मन का मनुष्य एक छोटे-से बिन्दु का रूप ले लेगा—इतना छोटा बिन्दु कि आप उसे अणुवीक्षण यत्र से ही देख सकेगे।'

विश्व के सभी प्रकार के प्राणियो को इस प्रकार बिन्दुओ मे बदल दिया जाए तो वे सब-के-सब हमारे पानी पीने के गिलास मे समा सकेगे। एक हाथी पूर्व की ओर मुह करके खड़ा है और एक हाथी का बच्चा पश्चिम की ओर मुह करके हाथी की सूड और दूसरे पैर के बीच मे खड़ा है। इस हाथी और उसके बच्चे के शरीर के परमाणुओ को मीजकर एक-दूसरे मे मिला दे तो केवल इतना द्रव्य रहेगा, जो एक सूई के छेद से निकाला जा सके। सभी पदार्थो के अवयवों का यही हाल है। यदि समूचे ससार के पादर्थो को मीजकर हम इन अणु-परमाणुओं को एक-दूसरे मे मिला दे तो हमे एक छोटी नारगी के बराबर की चीज़ मिलेगी।

मनुष्य जो भी रहस्य है

भगवान महावीर ने जब यह कहा कि 'जो एक को जानता है वही सबको जानता है सबको वही जान सकता है, जो एक को जानता है ।' तब उनके सामने अनेकान्त दृष्टि से सबको एक सूत्र मे बॉधने की बृहद् योजना उपस्थित थी ।

विश्व के सब पदार्थ सापेक्ष है । इसलिए समग्र दृष्टि से एक को जानने के लिए सबको जानना आवश्यक होता है । हम किसी भी एक तथ्य को इसीलिए पूर्णत. नही जानते कि हम सब पदार्थो के सब पर्यायो को पूर्णत नही जानते । पदार्थ अपने आप मे स्पष्ट हो । उसकी स्पष्टता और अस्पष्टता का विभाग हमारे ज्ञान-शक्ति पर अवलमिबत है । जहा हमारा ज्ञान नही पहुँच पाता, वही हमारे लिए रहस्य है । ज्ञात की अपेक्षा अज्ञात अधिक है । प्रगट की अपेक्षा रहस्य अधिक है । हम थोड़े पर्यायो को जानते है और ज्ञात पर्यायो के परिपार्श्व में ही हमारी सबकी रेखाए निर्मित होती है । अज्ञात जब ज्ञात होता है तब सत्य नही बदलता, पर हमारी सत्य की भाषा बदल जाती है ।

रहस्य है मनुष्य

आश्चर्य यह है कि रहस्यो का उद्घाटन करने वाला मनुष्य है, जो स्वय आज भी रहस्य बना हुआ है । उसका चैतन्य रहस्य है । उसका अतीत रहस्य है और उसका भविष्य है और उसकी विविधता रहस्य है । भौतिक विज्ञान ने दृश्य उपकरणो के आधार पर मनुष्य के रहस्यो को खोलने का यत्न किया है और जैन-दर्शन ने मनुष्य के पौद्गलिक सम्पर्को के द्वारा उसके रहस्य का उद्घाटन किया है । कर्मवाद मुनष्यो के परिवर्तनो और बहु-रूपो का वैज्ञानिक विश्लेषण है ।

आत्मा अरूप है इसलिए वह अव्यक्त है । उसकी अभिव्यक्ति परमाणुओ से होती है । अव्यक्त और व्यक्त जगत् के मध्य की कड़ी कर्म-परमाणु है । उनके द्वारा शरीर-रचना होती है । जो व्यक्त जगत् है, वह जीव शरीर या जीवमुक्त शरीर ही है । जो परमाणु जीव-शरीर मे परणित नही होते, वे स्थूल नही बनते ।

शरीर विज्ञान की दृष्टि

शरीर विज्ञान की दृष्टि से स्त्री मे पुरुष के तत्त्वाश और पुरुष मे स्त्री के तत्त्वांश होते है । उस स्त्री का पुरुष मे और उस पुरुष का स्त्री मे परिवर्तन हो जाता है । कर्मवाद

के अनुसार मनुष्य मे तीन वेद होते है—स्त्री, पुरुष और नपुसक। एक वेद व्यक्त होता है और दो वेद अव्यक्त। वेद का सम्बन्ध कर्म-परमाणुओ से है और अभिव्यक्ति का प्रश्न बाह्य परिस्थितियो से। बाह्य परिस्थिति यदि दूसरे वेद के अनुकूल अधिक होती है तो पूर्ववर्ती वेद दूसरे वेद मे विलीन हो जाता है। एक ही जीवन में तीनो वेद एक एक कर अभिव्यक्त हो सकते है।

जाति-परिवर्तन की मीमांसा मे उरार्वम ने बताया है कि विभिन्न जातियो मे, उनके शरीरो की बनावट और अगो के क्रम मे अद्भुत समानता दिखाई देती है। ज्ञान-इन्द्रिया, कर्म-इन्द्रिया, भेदरिक्त नालिया, तन्तु-जाल आदि की स्थिति से ऐसा प्रतीत होता है कि कभी ये जातिया बहुत निकट थी। यह प्रश्न भी उनके सामने रहा है कि चिह्नो की यह विभिन्नता कैसे उत्पन्न होती है ?

विभिन्नता का हेतु

कर्मवाद के आधार पर भी इस प्रश्न पर विचार किया गया है। वह कोरा दार्शनिक सिद्धान्त नही है। अनेक तथ्यो का सकलन करने के पश्चात् उसके निष्कर्ष पुष्ट हुए है, इसलिए यह वैज्ञानिक पद्धति है। विभिन्नता का हेतु कर्म-परमाणु और बाहरी वातावरण दोनो है। कर्म-परमाणुओ से प्राणी का किसी प्रमुख जाति मे जन्म होता है और उसके अनुकूल ज्ञान-इन्द्रिया, कर्म-इन्द्रिया विकसित होती है। शरीर की रचना, रूप, रग आदि मे जो विविधता आती है, उसमे कर्म-परमाणुओ की अपेक्षा बाह्य परिस्थिति का कर्तृत्व प्रधान है। उदाहरण के लिए हम मनुष्य-जाति को लेते है। मनुष्य-जाति एक है। पॉच इन्द्रिय, कर्म, त्रैकालिक, दीर्घकालिक सज्ञान—सब मनुष्यो मे होता है पर उनकी आकृति-रचना और बाहरी अभिव्यक्ति मे बहुत बड़ा अन्तर होता है।

विचित्र शरीर रचना

भौगोलिक कारणो से मनुष्य मे जो अन्तर होता है, उसकी जैन साहित्य ने एक तालिका प्रस्तुत की है।

उसके अनुसार पूर्व दिशा मे एक जॉघ वाले, पश्चिम मे पूँछवाले, उत्तर मे गूगे, दक्षिण मे सीगवाले मनुष्य है। विदिशाओ मे खरगोश के कान सरीखे कान वाले, लम्बे कान वाले और बहुत चौडे कान वाले मनुष्य है।

अन्तराल मे अश्व, सिह, कुत्ता, सूअर, व्याघ्र, उल्लू और बन्दर के मुख जैसे मुखवाले मनुष्य है।

शिखरी पर्वत के दोनो अन्तरालो मे मेघ और बिजली के समान मुख वाले, हिमवान् के दोनो अन्तरालो मे मत्स्य और काल की मुखाकृतिवाले उत्तर, विजयार्थ के दोनो अन्तों मे हस्तिमुख और आदर्श मुखवाले तथा दक्षिण विजयार्थ के दोनो अन्तो मे गोमुख और मेषमुख की आकृति वाले मनुष्य है।

अपूर्ण है वैज्ञानिक प्रगति

एक जांघ वाले मनुष्य गुफाओ मे रहते है और मिट्टी का आहार करते है। शेष सब वृक्षो पर रहते है और पुष्प-फल आदि का आहार करते है। ये अन्तर-द्वीपो मे रहनेवाले मनुष्य है। जितनी विभिन्नता क्षेत्रकृत है, उससे कम कालकृत कैसे होगी , हमारी यह कल्पना कि मनुष्य सदा एक जैसी आकृति, लम्बाई, चौड़ाई, सस्थान सहनन वाला रहा है, यह कोरी कल्पना ही है। वास्तविकता तो यह है कि उसमे जितना परिवर्तन हुआ है, उसकी कल्पना आज हमे नही है। मनुष्य से श्रेष्ठ कोई प्राणी है—यह विज्ञान के लिए प्रश्न ही है। किन्तु हमारी दुनिया भी ऐसे वातावरणो से घिरी हुई है कि इससे आगे जो असख्य दुनिया है उनकी और उनके प्राणियो की तथा अपने विद्याओ के मनुष्यो की सही स्थिति को जानने के लिए आज भी हमारी वैज्ञानिक प्रगति अपूर्ण है। इसलिए मनुष्य जो सब रहस्यो को खोलने के लिए गतिशील हो रहा है, वह स्वयं भी एक रहस्य है।

साधना का अर्थ

साधना का अर्थ है—स्वभाव-परिवर्तन की प्रक्रिया। साधना से पूर्व जो स्वभाव है उसमे यदि परिवर्तन न आए तो समझिए साधना का कोई फल नही हुआ। साधना से पूर्व साधक का दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि साधना से स्वभाव बदला जा सकता है। स्वभाव कहने व सुनने की अपेक्षा अभ्यास से अधिक बदलता है। सबसे पहले क्रोध-नियन्त्रण का अभ्यास आवश्यक है, क्योकि सामूहिक जीवन मे उसका अधिक प्रसग आता है।

प्रक्रिया

कुछ प्रश्न प्रस्तुत किए जाते है। साधक उन प्रश्नो का उत्तर 'हा' या 'ना' मे अपने-आप से ले।

१ क्रोध आता है या नही ?

२ तीव्र आता या मन्द ?

३ अपने भीतर एक ही सीमित रहता है या गाली के रूप मे तथा हाथ-पैर चलाने के रूप मे बाहर आ जाता है ?

४ प्रतिदिन आता है या कभी-कभी, पॉच-दस दिन मे ?

५ एक दिन मे एक बार या अनेक बार ?

६ तत्काल शान्त हो जाता है या गॉठ बनकर लम्बे समय टिकता है ?

७ मैने कभी सोचा या नही कि क्रोध का परिणाम अन्तत बुरा ही होता है ?

८ क्षमा या मानसिक सतुलन व्यक्ति के लिए सभव है या नही ?

९ यदि सभव है तो उसके लिए प्रयत्न और अभ्यास किया या नही ?

१० प्रयत्न करने पर लक्ष्य तक पहुच पाया हू या नही ? कहा तक पहुचा हूं ? पहुच की कुछ क्रमिक रेखाए ये है

(क) प्रतिकूल कहे तो क्रोध नही आता।

(ख) दूर का आदमी कहे तो क्रोध नही आता।

(ग) घर का या निकट का आदमी कहे तो क्रोध नही आता।

(घ) अमुक-अमुक स्थिति मे क्रोध नही आता।

व्यक्ति का धर्म

कई बार यह अनुभव ही नही किया जाता कि गाली का प्रत्युत्तर बिना गाली के दिया जा सकता है। ''क्या मै कमजोर हूं, जो गाली को सहन करू—यह धारणा है तब तक क्रोध को बुरा नही माना जाता। बुरे के प्रति बुरा नही होना चहिए। सौदा भी नही करना है कि अमुक अच्छा व्यवहार करे तो उसके साथ अच्छा व्यवहार करूं। उसे सोचना चाहिए, मै अच्छा व्यवहार करू, यह मेरा धर्म है। प्रेम से जितना अच्छा होता है उतना क्रोध से नही होता। क्रोध का प्रत्युत्तर क्रोध से नही, प्रेम-व्यवहार से होना चाहिए।

क्रोध का स्वभाव मिटाने के लिए सब जीवो के प्रति प्रेम का व्यवहार करे। मित्रता का विकास करे। सबको मित्र मानने से भय नही रहता। क्योकि भय शत्रु से होता है, शत्रु रहेगा ही नही तब भय किसका ? अधिकाश भय अपने मानसिक विकल्पो से पैदा होते है। मन मे किसी के प्रति ग्लानि व शत्रुता का भाव न रहे तब प्रसन्नता झलकती है, मन हल्का रहता है। ग्लानि से मन भारी बन जाता है, प्रसन्नता समाप्त हो जाती है।

नैतिक शिक्षा का उद्देश्य

पहले जानो, फिर करो—भारतीय चिन्तन का यह चिरन्तन निष्कर्ष है। करने के बाद जानने का द्वार बन्द नही होता। फिर जानो, फिर करो— यह द्वार सदा खुला रहता है। जानो-करो, फिर जानो, फिर करो—इस मार्ग पर चलकर ही मनुष्य विकास की मेखला तक पहुँचा है।

जो विषय हमे ज्ञात नही होता, उसके आचरण मे हमारा आकर्षण भी नही होता। जो आदमी आम के स्वाद को नही जानता, वह उसे खाने को कभी नही ललचाता। एक आदमी ने बादाम और चिलगोझ नही देखे थे। वे छीलकर दूध पर डाले हुए थे। उसने लटे समझ कर दूध नही पिया। उसके अज्ञान ने ही उसे दूध नही पीने दिया।

शिक्षा का उद्देश्य

अज्ञान सबसे बड़ी बुराई है। क्रोध करना बुरा है। क्या उसके मूल मे अज्ञान नही है? यदि क्रोध के परिणामो का सही-सही ज्ञान हो तो आदमी क्रोध नही कर सकता।

यथार्थ को जानना बुराई को चुनौती दे डालना है। ज्ञान को पुष्ट करना बुराई के मूल को उखड़ डालना है। शिक्षा का स्वयम्भू उद्देश्य है अज्ञात को ज्ञात करना। हेय का वर्जन और उपादेय का आचरण—ये दोनो कार्य ज्ञान के उत्तरकाल मे होते है। जिसे नैतिक और अनैतिक व्यवहार व उसके परिणामो का ज्ञान नही होता, वह किस आधार पर यह निर्णय करेगा कि उसे नैतिक व्यवहार करना चाहिए और अनैतिक व्यवहार नही करना चाहिए।

नैतिक शिक्षा क्यों ?

नैतिकता का ज्ञान होने पर सब आदमी नैतिक बन जाते है, यह अनिवार्यता नही है। किन्तु इस संभावना को अस्वीकार नही किया जा सकता कि नैतिकता का ज्ञान होने पर लोग नैतिक बन सकते है। नैतिक शिक्षा का यही प्रबल आधार है।

कुछ शिक्षाविद् नैतिक शिक्षा को आवश्यक नही मानते। उनके मतानुसार नैतिकता सामाजिक व्यवहार से फलित होती है। अभिभावक और अध्यापक जैसा आचरण करते है वैसा ही आचरण करने की प्रेरणा विद्यार्थी को मिलती है। विद्यार्थी को शिक्षा एक प्रकार की मिलेगी और व्यवहार दूसरी प्रकार का मिलेगा, इससे उनके मन पर विरोधी प्रतिक्रिया

नैतिक बनने की प्रक्रिया

विद्यार्थी को अनैतिक धारणाओ से बचाना, उसमे नैतिकता के प्रति आकषर्ण पैदा करना व नैतिकता के ज्ञान को सस्कार मे बदलना सस्कार केन्द्र का काम है। इच्छा पर बुद्धि का नियत्रण स्थापित किए बिना आदमी नैतिक नँही बन सकता। कुछ लोग बुराई इसलिए करते है कि उन्हे बुराई के परिणामो का ज्ञान नही है। कुछ लोग बुराई के परिणामो को जानते हुए भी बुराई करते है। उसका कारण यह है कि उनकी इच्छा पर बुद्धि का नियत्रण नही है। बुराई को छोड़ने की पूर्ण प्रक्रिया यह है कि पहले बुराई के स्वरूप को, उसके परिणामो को जाना जाए, फिर अभ्यास के द्वारा इच्छा पर या इन्द्रिय और मन पर बुद्धि का नियत्रण स्थापित किया जाए.। यह असभव प्रक्रिया नही है। मनुष्य ने अच्छाई की जितनी मात्रा प्राप्त की है, वह इसी प्रक्रिया से की है।

प्रतिबिम्बित होगी। वे इस कठिनाई के धागे मे उलझ जाएंगे कि वे क्या करें, जो उन्हें पढ़ाया जाता है वह करे या जो उनके पूर्वज कर रहे है, वह करे ?

शिक्षा और व्यवहार की विसंगति

भौतिक शिक्षा और उसके व्यवहार मे कोई विसंगति नही है। नैतिक शिक्षा और व्यवहार मे विसगति है। कथनी और करनी का द्वैध मनुष्य की अपनी विशेषता है। मनुष्य के सिवाय अन्य किसी भी प्राणी मे इतना ज्ञान विकसित नही है। शेष प्राणी कुछ प्रवृत्तिया करते है, किन्तु कहना नही जानते—दूसरो को विश्वास मे लेना नही जानते। वे जो कुछ करते है, स्पष्ट करते है, छिपाना नही जानते। मनुष्य जो सोचता है उससे भिन्न कहता है और जो कहता है उससे भिन्न करता है। यह चिन्तन, वचन और कर्म का विरोध ही शिक्षा और व्यवहार की विसगति का हेतु बनता है।

नैतिक शिक्षा का सूत्र

नैतिक शिक्षा का सूत्र है—जो मन मे हो, वही कहो और जो कहो, वही करो। कथनी और करनी की समानता और ऋजुता से नैतिक व्यवहार फलित होते है। किन्तु हमारे सामाजिक और राजकीय नियम कथनी-करनी के द्वैध और प्रवंचना को जितना प्रोत्साहन देते है उतना कथनी-करनी की समानता और ऋजुता को नही देते। कानून की *अपनी कठिनाई है कि वह वास्तविकता को नही देखता, साक्ष्य को देखता है। साक्ष्य* का सग्रह जितना प्रवचना से होता है, उतना सचाई से नही होता। इसलिए बहुत बार प्रवचना की जीत होती है, सचाई प्रताड़ित होती है। धन का प्रवाह जितना प्रवंचना की ओर प्रवहमान है उतना सचाई की ओर नही है। अधिकांश लोग प्रवचना के द्वारा लाभान्वित होते है तब नैतिकता के नाम पर कुछ धर्मभीरु लोगों को भौतिकता के प्रत्यक्ष लाभ से क्यो वचित रखा जाए ?

विद्यालय का कार्य

जिस अभिमत की मैने चर्चा की है उसमे तथ्य नही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु वे इतने बलवान भी नही है, जो नैतिक शिक्षा के आधार को हिला सके। यह हम स्वीकार कर सकते है कि समाज मे अनेक बुराइया है। अनीति को नीति की अपेक्षा अधिक प्रोत्साहन मिल रहा है। फिर भी समाज मात्र बुराइयो का पुलिन्दा नही है। यदि ऐसा होता तो नैतिक विमर्श की कोई अपेक्षा ही नही रहती।

समाज मे बहुत अच्छाइया भी है। जो अच्छाइयां है, वे ज्ञान और संस्कार से फलित है। जो बुराइया है वे अज्ञान और संस्कारहीनता के कारण है। विद्यार्थी के अज्ञान को दूर करना, उसे अनैतिकता और नैतिकता के स्वरूप और परिणामों से परिचित करना, यह विद्यालय का काम है।

नैतिक बनने की प्रक्रिया

विद्यार्थी को अनैतिक धारणाओ से बचाना, उसमे नैतिकता के प्रति आकषर्ण पैदा करना व नैतिकता के ज्ञान को सस्कार मे बदलना सस्कार केन्द्र का काम है। इच्छा पर बुद्धि का नियत्रण स्थापित किए बिना आदमी नैतिक नँही बन सकता। कुछ लोग बुराई इसलिए करते है कि उन्हे बुराई के परिणामो का ज्ञान नही है। कुछ लोग बुराई के परिणामो को जानते हुए भी बुराई करते है। उसका कारण यह है कि उनकी इच्छा पर बुद्धि का नियत्रण नही है। बुराई को छोड़ने की पूर्ण प्रक्रिया यह है कि पहले बुराई के स्वरूप को, उसके परिणामो को जाना जाए, फिर अभ्यास के द्वारा इच्छा पर या इन्द्रिय और मन पर बुद्धि का नियत्रण स्थापित किया जाए। यह असभव प्रक्रिया नही है। मनुष्य ने अच्छाई की जितनी मात्रा प्राप्त की है, वह इसी प्रक्रिया से की है।

कला और कलाकार

बहुत अच्छा होता मै कलाकार होता और कला पर प्रकाश डालता। पर मै कलाकार नही हू, साधक हू। साधक भी संयम का हूं, कला का नंही। मै व्यापक दृष्टि से सोचता हूं, तो पाता हू कि जिस व्यक्ति के पास वाणी है, हाथ है, अॅगुली है, पैर है, शरीर के अवयव है, वह कलाकार है। इस परिभाषा मे कौन कलाकर नही है ? हर व्यक्ति कलाकार है। मै भी कलाकार हू।

आत्मख्यापन की प्रवृत्ति

मनुष्य मे अभिव्यक्ति या आत्म-ख्यापन की प्रवृत्ति आदिकाल से रही है। वह अव्यक्त से व्यक्त होना चाहता है। वह नही होता तो वाणी का विकास नही होता। यदि वह नहीं होता तो मनुष्य का चिन्तन वाणी के द्वारा प्रवाहित नही होता। अव्यक्त का व्यक्तीकरण और सूक्ष्म का स्थूलीकरण क्या कला नही है ?

उपनिषद् के अनुसार सृष्टि का आदि-बीज कला है। ब्रह्म के मन मे आया, मै व्यक्त होऊ। वह नाम और रूप के माध्यम से व्यक्त हुआ। सृष्टि और क्या है ? नाम और रूप की ही तो सृष्टि है। जिसमे अभिव्यक्ति का भाव हो और जो उसे व्यक्त करना जानता हो, वही कलाकर है।

विकास का लक्षण

कलाकार पहले रेखाए खीचता है, फिर परिष्कार करता है। कभी-कभी परिष्कार मे मूलरूप ही बदल जाता है। मकान का परिष्कार होता है। परिष्कार विकास का लक्षण है।

कला मे हाथ, अगुली, पैर, इन्द्रिय और शरीर का प्रयोग होता है। भगवान् ने हमे पाठ दिया कि हाथ का सयम करो। पैर का संयम करो। वाणी का सयम करो। इन्द्रियो का सयम करो।

कला का सूत्र है, ऑख खोलकर देखो। सयम का मूल सूत्र है, ऑख मूॅदकर देखो। कला की पृष्ठभूमि मे अभिव्यक्ति है। सयम अनभिव्यक्ति की ओर प्रेरित करता है। दोनो मे सामजस्य प्रतीत नही होता। हर वस्तु मे विरोधी युगल होते है। एक परमाणु मे भी विरोधी युगल है। जिसमे ये नही होते, उसका अस्तित्व नही होता।

कला का अर्थ

कला और सयम मे भी सामजस्य है। कला का अर्थ है सामजस्यपूर्ण प्रवृत्ति। मुझे स्याद्वाद की दृष्टि प्राप्त हुई है। मै सापेक्षदृष्टि से देखता हू कि कला का विकास सामजस्य से हुआ है। सत्य कला से विराट् है। सत्य के साथ कला का योग होने से जीवन विकासशील बन जाता है। अगरबत्ती को अग्नि मिलने से सुगन्ध फूट पड़ती है। सत्य और सौन्दर्य का योग होने से जीवन का विकास हो जाता है। जीवन-विकास और कल्याण मे अन्तर नही है। कल्याण यानी शिव। हमारा शिव सत्य और सौन्दर्य के बीच होना चाहिए। जीवन की पृष्ठभूमि मे शिव और ऑखो के सामने सौन्दर्य हो तभी सत्य, शिव, सुदरं की समन्विति हो सकती है।

युवकशक्ति : संगठन

बालक के उपकरण अविकसित होते है इसलिए उसमे निहित शक्तिया कार्यकर नही होती । बूढ़े के उपकरण शिथिल हो जाते है इसलिए उसकी शक्तिया कार्यक्षमता को खो बैठती है । युवा के उपकरण पूर्ण विकसित और पूर्ण सक्षम होते है इसलिए उसकी कार्यक्षमता असंदिग्ध होती है । युवा की यदि कोई भावात्मक सज्ञा करनी हो तो उसके लिए 'कार्यक्षमता' सर्वाधिक उपयुक्त सज्ञा होगी ।

शक्ति का प्रतीक

युवक शक्ति का प्रतीक है, यह निर्विवाद सत्य है । शक्ति होना एक बात है और उसका समीचीन उपयोग होना दूसरी बात है । सस्कृत साहित्य मे कहा गया है कि शक्ति के दोनो प्रयोग हो सकते है—रक्षण और पीड़न । जिस युवक के सामने महान् आदर्श होता है, उसकी शक्ति रक्षण या अहिसा मे लगती है । आदर्शहीन युवक की शक्ति पीड़न मे लग जाती है ।

इस दुनिया मे हर वस्तु अपूर्ण होती है । विश्व का नियम ही ऐसा है कि उसमे किसी भी वस्तु को पूर्णता प्राप्त नही है और वह इसलिए नही है कि यदि कोई वस्तु पूर्ण होती तो वह दूसरो से निरपेक्ष हो जाती । निरपेक्ष वस्तु का टिक पाना स्वय उसके लिए भी कठिन होता है और दूसरो के लिए भी कठिन होता है । इसीलिए हर वस्तु अपूर्ण है और अपूर्ण होने के कारण वह दूसरो से सापेक्ष है । यह सापेक्षता ही विभिन्न वस्तुओ मे सामजस्य बनाये हुए हैं—उन्हे एक साथ टिकाये हुए है ।

अनुभव की निधि

युवको को वृद्ध लोगो की अपेक्षा है । वे उनसे निरपेक्ष होकर अपनी शक्ति का उतना और उतने सही ढग से प्रयोग नही कर सकते, जितना कि सापेक्षता की स्थिति मे कर सकते है ।

वृद्ध व्यक्ति के पास अनुभव की निधि होती है । अनुभव और शक्ति का अन्धा-

पंगु जैसा योग होता है। अनुभव देखता है, पर चल नही सकता। शक्ति चलती है पर देख नही सकती। अनुभव पंगु है, शक्ति अधी है। यदि ये एक-दूसरे को सहारा दें तो फिर इष्ट दूर नही रहता।

युवक न रुकें, न ठिठके, वे चलें पर उनकी गति के साथ अनुभव की लौ प्रज्वलित रहे, यही वाछनीय है।

पूर्ण और अपूर्ण

आत्मा पूर्ण है पर व्यक्ति पूर्ण नही है। वह अपूर्ण है, इसीलिए उसमें लिप्सा है। लिप्सा अपूर्णता का चिह्न है। जिसमे जितनी अपूर्णता होगी, उसमे उतनी ही लिप्सा होगी। मनुष्य की अपूर्णता अतृप्ति के द्वारा अभिव्यक्त होती है। उसका शरीर अतृप्त है और मन भी। शारीरिक तृप्ति के लिए मनुष्य पदार्थ पाने की इच्छा करता है और मन की तृप्ति के लिए वह उसे भी पाना चाहता है, जो पदार्थ नही है। यश कोई पदार्थ नही है। पद भी पदार्थ नही है। किन्तु मनुष्य मे यशेलिप्सा भी है और पद-लिप्सा भी है। यश से मनुष्य को कुछ भी नही मिलता पर तृप्ति ऐसी मिलती है, जैसी सम्भवत और किसी से नही मिलती। अधिकारशून्य पद की भी यही दशा है। अधिकारयुक्त पद से कुछ मिलता भी है पर वह नही मिलता, जिससे अपूर्णता मिटे।

अपने-आप मे सब पूर्ण है। कोई उसे पा गया है, कोई प्राप्ति के पथ पर है। किसी की उसमे रुचि नही है तो किसी मे उसकी समझ नही है। पर बहुत सच है कि पदार्थों की सचिति से कोई भी परिपूर्ण नही है। एक की पूर्णता दूसरे की पूर्णता के सामने अपूर्णता मे परिणत हो जाती है।

पदार्थ अपने--आप मे पूर्ण है। वे न हमे पूर्ण बनाते है और न अपूर्ण। हम उन पर अपने ममत्व का धागा डालकर अपूर्ण बन जाते है। पूर्णता का मार्ग यही है कि ममत्व का धागा टूट जाए।

यंत्रवाद की चुनौती

पाताल, पृथ्वी और अन्तरिक्ष—लोक इन तीनो भागों मे विभक्त है। इन्ही को जैन-आगमो मे अधोलोक, तिर्यग्-लोक और ऊर्ध्व-लोक कहा है। मनुष्य तिर्यग्-लोक मे रहता है। शेष दो लोक उसके लिए सदा जिज्ञासा के विषय रहे है। भूगर्भ में वह गया है भूमि को खोदकर और अन्तरिक्ष मे वह गया उड़ान भरकर। विमानो का इतिहास बहुत पुराना है। उनमे बैठ अनेक मनुष्यो ने उड़ाने भरी है और अनन्त आकाश को देखने का यत्न किया है। किन्तु विमानो के बिना उड़ने का इतिहास भी बहुत पुराना है। जैन-साहित्य के अनेक पृष्ठ इस रहस्यमय विवरण से भरे पड़े है।

नभोगति के विविध रूप

चरित्र की विशुद्धि से नभो-गमन की शक्ति विकसित होती है। वह विद्या की आराधना से भी विकसित होती है। औषध-कल्प से भी मनुष्य आकाश मे उड़ सकता है। जघा-चारण सूर्य की रश्मियो का आलम्बन ले आकाश मे उड़ सकता है। वह एक उड़ान मे लाखो योजनो की दूरी पर चला जाता है। ऊचाई में वह एक ही उड़ान मे हज़ारो योजन ऊचा चला जाता है। व्योमचारी मुनि पद्मासन की मुद्रा मे बैठे-बैठे ही आकाश मे उड़ जाते है। जल-चारण मुनि जल के जीवों को कष्ट दिए बिना समुद्र आदि जलाशयो पर चलते है। दूसरी प्रकार के जंघा-चारण धरती से चार अंगुल ऊपर पैरो को उठाकर चलते है। पुष्प-चारण मुनि वनस्पति को कष्ट दिए बिना फूलो के सहारे चलते है। श्रेणी-चारण पर्वत के शिखरो पर चलते है। अग्निशिखा-चारण अग्नि की शिखा पर चलते है। ये न अग्नि के जीवो को कष्ट पहुंचाते है और न स्वय जलते है। धूम-चारण धूम की पक्ति को पकड़कर उड़ जाते है। मर्कटतन्तु-चारण मकड़ी के जाल पर चलते है। उसे कोई कष्ट पहुचाए बिना वे ऐसा करते है। ज्योतिरश्मि चारण सूरज, चाद या अन्य किसी ग्रह-नक्षत्र की रश्मियो को पकड़ कर ऊपर चले जाते है। वायु-चारण हवा को पकड़ उड़ जाते है। जलद-चारण मेघ के, अवश्याय-चारण ओस के सहारे उड़ जाते है। इस प्रकार नभोगति की विविध रूप-रेखाए है। भारत के अपने आन्तरिक बल से एक दिन समूचा ससार आश्चर्यचकित था। आज यन्त्रवाद फिर अध्यात्म को चुनौती दे रहा है। क्या भारत मे उसे झेलने की क्षमता है ?

निर्णय

एक भाई ने पूछा—निर्णायक हम स्वय है, फिर किसी को क्यों माने ! मैने कहा—गुरु को इसीलिए मानते है कि हम स्वय निर्णायक है। हमे जो अपने से बड़ा लगता है, उसी को हम गुरु मानते है, उसे गुरु नही मानते, जो हमें अपने से छोटा लगे।

शब्दो की दुनिया मे कहा जाता है—हम आप्त-वाणी को मानते है, शास्त्रो को मानते है, गुरु को मानते है आदि-आदि। पर सचाई यह है कि हम अपने आपको मानते है। अपनी बुद्धि को मानते है। अपनी रुचि को मानते है। संस्कारो को मानते है।

यह जगत् सकुलता से भरा है। शब्द एक है, अर्थ अनेक। एक पाठ के अनेक आचार्यो ने अनेक अर्थ किए है। किसे मान्य किया जाए ? इसका निर्णय आगम नहीं करते, हम स्वय करते है। वहां आगम का प्रामाण्य नही होता, वहां प्रमाण बनती है हमारी अपनी बुद्धि। गुरु जो व्याख्या देते है, उसे भी हम अपने संस्कारो और रुचि के अनुरूप ढालने का यत्न करते है। उसमे ढले तो ठीक, नही तो उसे हृदय से मान्यता नही देते। वाणी किसी सर्वज्ञ की हो या असर्वज्ञ की, सिद्धान्त किसी सर्वज्ञ का हो या असर्वज्ञ का, वह हमारा होकर ही मान्यता प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नही। जो बात हमारी समझ मे आती है, उसे हम प्रत्यक्ष मान्यता देते है और जो बात हमारी समझ मे नही आती है, उसे हम श्रद्धा से मान्य करते है। श्रद्धा और क्या है ? हमारी ही बुद्धि का निर्णय है। हमने मान लिया कि अमुक व्यक्ति की बात मिथ्या नही हो सकती, हमारी समझ अधूरी हो सकती है। इसलिए उसकी सब बाते हम मान्य कर लेते है भले फिर वे समझ मे आएं या न आए। श्रद्धा हमारी बुद्धि का स्थित-पक्ष है। इसका अर्थ यह नही कि समझ से परे जो भी हो, उसे आंखे मूंदकर मान्य कर ले किन्तु इसका अर्थ यह होना चाहिए कि जो समझ से परे हो वह समझ का विषय बने उतना धैर्य रखे। सत्य-जिज्ञासा की लौ बुझ न पाए, आग्रह का भाव बच न पाए।

संकुलता

सकुलता से मुक्त कौन है ? और संकुलता कहा नहीं है ? बाजार मे चले जाइये। दूकानो की लम्बी पक्ति है। एक वस्तु की अनेक दूकानें है। कहा से क्या लिया जाए, इसका निर्णय व्यक्ति को ही करना होगा।

राजनीति के क्षेत्र का स्पर्श करिए। अनेक दल है। सबके पास खुशहाली के घोषणा-पत्र है। किसकी सदस्यता स्वीकार की जाए, इसका निर्णय व्यक्ति को ही करना होगा।

चिकित्सा का क्षेत्र भी ऐसा ही है। अनेक प्रणालियां है। उनके अधिकारियों के पास रोग-मुक्ति का आश्वासन है। किसकी शरण ले, इसका र्निय व्यक्ति को ही करना होगा।

ये सब अनेक है इसलिए बुद्धि को कष्ट देना पड़ता है। यदि सब एक हो जाए तो निर्णय करने का प्रयास क्यो करना पड़ता है ?

एक बार भोज ने ऐसा ही सोचा और छहो दर्शनो के प्रमुखो को कारागार मे डालकर जेलर को आदेश किया कि उन्हे तब तक भोजन न दिया जाए जब तक वे सब एकमत न हो जाएं।

यह बात सूराचार्य के कानो तक पहुंची। वे भोज की सभा मे गए और गुजरात लौट जाने की अपनी इच्छा व्यक्त की और साथ ही पूछा— राजन् ! वहा जाने पर मेरे आचार्य धारानगरी के बारे मे पूछेगे। मै उन्हे प्रामाणिक जानकारी दे सकूगा यदि आप मुझे सही-सही जानकारी दे।

राजा भोज ने गर्वोन्नत भाव से कहा—मुनिवर ! मेरी नगरी मे चौरासी राजप्रसाद है, चौरासी बड़े बाजार है। प्रत्येक बाजार मे भिन्न-भिन्न वस्तुओ की चौवीस बड़ी दुकाने है।

सूराचार्य बीच मे ही बोल उठे—अलग-अलग दूकाने क्यो ? अच्छा हो, सबको मिलाकर एक कर दिया जाए।

भोज ने कहा—भला यह कैसे हो सकता है ? आप कल्पना कीजिए, दुकान एक हो तो कितनी भीड़ हो जाए। लोगो की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओ को कौन कैसे पूरा करे ? आप मुनि है, व्यापार की कठिनाइयो को क्या जाने ?

सूराचार्य ने कहा—यही तो मै कहना चाहता हू कि आप शासक है, दर्शको की मनाओ को आप क्या जाने ? जिन दुकानो पर आपका अधिकार है, उन्हे भी प एक नही बना सकते तो भला जन-रुचि के विभिन्न स्रोतो को एक कैसे कर ोगे ?

राजा चिन्तन की गहराई मे डुबकी लगाए बिना नही रह सका। सब दार्शनिक अब ने-अपने विचार-प्रसार मे स्वतत्र थे।